शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

अगस्त : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, श्रावण-भाद्र ☆ अंक : ४

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

चारित्र

'पापरूप क्रियाओं की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। घातियाकर्म पाप हैं; मिथ्यात्व, असंयम और कषाय, पाप की क्रियाएँ हैं। उन पाप क्रियाओं के अभाव को चारित्र कहते हैं।' [श्री धवला टीका का ग्रन्थ ६, पृष्ठ ४०]

विशेष—पापरूप क्रियाओं में शुभ और अशुभ दोनों भाव आ जाते हैं। शुभ और अशुभ दोनों भावों से घातियाकर्म का बन्ध होता है, और घातियाकर्म पाप है, इसलिये शुभाशुभभाव भी पाप है।

यहाँ पाप क्रियाओं में मिथ्यात्व का स्थान सर्वप्रथम बताया है, क्योंकि जगत के सर्व पापों में सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व ही है। सर्वप्रथम उस पाप को दूर करने के बाद ही असंयमादि दूर होते हैं।

जिस भाव से आत्म गुणों की शक्ति का घात होता है, वे भाव पाप हैं। शुभभाव से भी आत्म गुण का घात होता है, इसलिये शुभभाव भी पाप क्रिया ही हैं। उस पाप क्रिया के अर्थात् शुभाशुभभावों के अभाव को चारित्र कहते हैं। दृष्टि की प्रतीति के साथ जितने अंश में शुभाशुभ का अभाव हो, उतना चारित्र है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१४८]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ सौराष्ट्र

दशलक्षणी धर्म अर्थात् पर्यूषण पर्व

भाद्रपद शुक्ला ५ गुरुवार ता० २९-८-५७ से भाद्रपद शुक्ला १४ शनिवार ता० ७-९-५७ तक दस दिन सोनगढ़ में दसलक्षणी धर्म अर्थात् पर्यूषण के रूप में मनाये जायेंगे। इन दिनों के दरमियान उत्तम क्षमादि धर्मों पर पूज्य गुरुदेव के मुख्य प्रवचन होंगे। इसके उपरांत सामूहिक भक्ति, तत्त्वचर्चा आदि कार्यक्रम भी होता है। बाहर गाँव के अनेक जिज्ञासु इसमें सम्मिलित होते हैं। जिज्ञासुओं को सोनगढ़ आकर लाभ लेना चाहिये।

नया प्रकाशन

मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें

द्वितीय भाग

पत्र संख्या ४५६ सजिल्द, मूल्य लागत मात्र २) पोस्टेज अलग। जिसमें सातवें अधिकार में से जैनमत अनुयायी मिथ्यादृष्टि के स्वरूप पर बड़ी स्पष्ट शैली से सत्पुरुष कानजी स्वामी ने व्याख्यान किये हैं, उन व्याख्यानों का सार है। जो बड़ी महत्वपूर्ण प्रयोजनभूत भूलें और सम्यक्ज्ञान का स्वरूप समझने के लिये स्वच्छ दर्पण समान है। आज ही मंगाइये।

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

अगस्त : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, श्रावण-भाद्र ☆ अंक ४

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[११]

परिणामशक्ति

यह आत्मा की शक्तियों का वर्णन चल रहा है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में कैसी-कैसी शक्तियाँ उल्लसित होती हैं, वह आचार्यदेव ने बतलाया है। उन शक्तियों के द्वारा अनंत शक्ति के पिण्डरूप अनेकान्तमूर्ति आत्मा को पहिचानकर उसमें एकाग्र होने पर श्रद्धा—आनन्दादि का निर्मल परिणमन होता है, उसका नाम धर्म है।

श्रद्धा का मूल, ज्ञान का मूल, आनन्द का मूल आत्मा है; वह आत्मा कैसा है ?—इसे जब तक यथार्थरूप से न जाने-अनुभव न करे, तब तक श्रद्धा-ज्ञान आनन्द के अंकुर नहीं फूटते। आनन्द कौन से पदार्थ में भरा है ?—जिसके सन्मुख होने से आनन्द का वेदन हो। आत्मा क्या वस्तु है ?—जिसे लक्ष में लेकर चिंतवन करने से आनन्द हो। उसका जब तक यथार्थ श्रवण-ग्रहण-धारण और निर्णय भी न हो, तब तक चिंतन कहाँ से करेगा ? तथा उसके आनन्द का अनुभव कहाँ से होगा ? अहो ! महिमावंत भगवान आत्मा अनंत धर्मों से प्रसिद्ध है; उसकी महिमा प्रसिद्धरूप से सर्व संत और शास्त्र गाते हैं; किन्तु उस ओर उन्मुख होकर अपनी पर्याय में जीव ने कभी उसकी प्रसिद्धि नहीं की। भगवान आत्मा की प्रसिद्धि कैसे हो अर्थात् पर्याय में उसका प्रगट अनुभव कैसे हो – वह यहाँ बतलाते हैं।

स्वसंवेदन ज्ञानरूप लक्षण द्वारा भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है। ज्ञान लक्षण को अंतरोन्मुख करके आत्मा को लक्ष बनाने से चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनुभव होता है। उस अनुभव में अकेला ज्ञान ही नहीं है किन्तु ज्ञान के साथ श्रद्धा, आनन्द, वीर्य, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनंत शक्तियाँ भी साथ ही उछलती हैं; इसलिये आत्मा अनेकान्त स्वरूप है। उस अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की अनंत शक्तियों में से कुछ शक्तियों का यहाँ आचार्यदेव ने वर्णन किया है, उनमें 'जीवत्व' से लेकर 'उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व' तक की १८ शक्तियों पर विस्तृत प्रवचन हो गये हैं। अब १९वीं परिणामशक्ति है।

परिणामशक्ति कैसी है? 'द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिंगित, सदृश और विसदृश जिसका रूप है - ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति है।' आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में यह शक्ति भी साथ ही परिणमित होती है।

पहले तो ऐसा कहा कि ध्रौव्य, व्यय और उत्पाद—यह तीनों द्रव्य के स्वभावभूत हैं; किसी अन्य के कारण नहीं है। जिस प्रकार ध्रुव-स्थितिपना अपने स्वभाव से ही है, किसी अन्य के कारण नहीं है; उसी प्रकार प्रतिक्षण नई पर्याय की उत्पत्ति भी अपने स्वभाव से ही है, पर के कारण नहीं है। जो पर निमित्त के कारण आत्मा के परिणामों का उत्पन्न होना मानता है, उसने परिणाम शक्तिवाले आत्मा को नहीं जाना। उत्पाद-व्यय-ध्रुव, वह द्रव्य के स्वभावभूत है और द्रव्य का अस्तित्व ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव से आलिंगित है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रुव की भिन्न-भिन्न तीन सत्ताएँ नहीं हैं किन्तु एक ही सत्ता उन तीनों से एक साथ स्पर्शित है; उस सत्ता का अस्तित्व ध्रुवता की अपेक्षा से तो सदृश है और उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से विसदृश है।—ऐसे अस्तित्वमात्रमय परिणामशक्ति है। ध्रुवता के बिना परिणाम काहे में होगा? और उत्पाद-व्यय के बिना परिणाम किस प्रकार होगा? उत्पाद-व्यय और ध्रुवता के बिना परिणाम हो नहीं सकता; इसलिये कहा है कि ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिंगित ऐसे एक अस्तित्वमात्रमय परिणामशक्ति है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' और 'सत् लक्षण द्रव्यं'—इन दोनों महत्वपूर्ण (तत्वार्थसूत्र के) सूत्रों का इसमें समावेश हो जाता है। अस्तित्वमात्र कहकर सत्पना बतलाना है।

यद्यपि परिणामशक्ति तो आत्मा और जड़ समस्त द्रव्यों में है, किन्तु इस समय तो आत्मा की बात है। प्रत्येक आत्मा में परिणामशक्ति त्रिकाल है। अज्ञानदशा, साधकदशा अथवा सिद्धदशा —उस प्रत्येक के समय परिणामशक्ति का परिणमन तो वर्त ही रहा है; किन्तु परिणामशक्तिवाले

आत्मा का भान करके उसका आश्रय करने से परिणामशक्ति का निर्मल परिणमन होता है। इस प्रकार शक्तियों का निर्मल परिणमन हो, वही धर्म है; उसी में आत्मा की प्रसिद्धि है।

जिस प्रकार घर में लाखों के मूल्य का एक आभूषण पड़ा हो, किन्तु जब तक उसकी प्रसिद्धि नहीं है अर्थात् उसकी खबर नहीं है, तब तक तो वह घर में होने पर भी न होने के समान ही है। उसी प्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्दादि अनंत शक्तियोंरूपी आभूषणों से भरपूर है, किन्तु जब तक उसका भान नहीं है, तब तक वह अप्रसिद्ध है अर्थात् अज्ञानी का तो आत्मा विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है, उसे उसकी प्रसिद्धि नहीं है और अंतर्मुख होकर आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करने से उसकी प्रसिद्धि होती है, अर्थात् आत्मा की शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित होकर उसका प्रगट अनुभव होता है।—ऐसी आत्मा की प्रसिद्धि हो, उसका नाम धर्म है।

अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति के वर्णन में अनेक स्पष्टीकरण आ गये हैं; तदनुसार यहाँ भी समझना। अठारहवीं शक्ति में क्रमप्रवृत्ति और अक्रमप्रवृत्ति कहकर उत्पाद-व्यय-ध्रुव बतलाये थे और यहाँ सदृश तथा विसदृशरूप अस्तित्व कहकर परिणामशक्ति बतलायी है। ध्रुव अपेक्षा से सदृशता है और उत्पाद-व्यय-अपेक्षा से विसदृशता है।—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव के बिना परिणाम हो ही नहीं सकता। अकली ध्रुवरूप नित्यता ही हो और उत्पाद-व्यय न हो तो प्रतिक्षण नये परिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती; उसी प्रकार यदि सर्वथा क्षणिकता ही हो तथा ध्रुवता न हो तो दूसरे क्षण वस्तु का सत्पना ही न रहे; इसलिये नये परिणाम भी काहे में से होंगे? इस प्रकार, अज्ञान दूर होकर ज्ञान, दुःख दूर होकर आनन्द और संसार दूर होकर मोक्ष इत्यादि परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रुवता के बिना नहीं हो सकते। इसलिये कहा है कि यह परिणामशक्ति उत्पाद-व्यय-ध्रुव से बुने हुए अस्तित्वमय है। आचार्यदेव ने एक-एक शक्ति में गूढ़रूप से वस्तुस्वरूप को गूँथ दिया है। अनादिकालीन अज्ञान में से पलट कर अन्तर्मुख होकर नित्य स्थायी ज्ञानस्वभाव के साथ एकता करके अनुभव किया, वहाँ ज्ञान का निर्मल परिणमन हुआ और उस परिणमन में ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव से बुना हुआ अस्तित्व भी साथ ही है, अर्थात् ज्ञान के साथ परिणमनशक्ति भी साथ ही उछलती है। इसलिये अनेकान्त अबाधितरूप वर्तता है।

ध्रुवता तथा व्यय और उत्पाद—यह तीनों मिलकर आत्मा का अस्तित्व है। अकेली पर्याय को ही देखें और ध्रुव द्रव्य को प्रतीति में न ले तो अस्तित्व की प्रतीति नहीं होती। इसलिये मात्र पर्यायदृष्टि द्वारा आत्मशक्ति की प्रतीति नहीं हो सकती—यह मुख्य रहस्य है।

पुनश्च कहा कि उत्पाद-व्यय-ध्रुव, वह द्रव्य के स्वभावभूत है, वह अपने से ही होता है। पर्याय की उत्पत्ति पर के कारण होती है अथवा निमित्त आये वैसी पर्याय होती है—ऐसा जो मानता है, उसने उत्पाद को स्वभावभूत नहीं माना, इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप अस्तित्व सिद्ध नहीं हुआ और ऐसा होने से अनंत शक्तिवाला आत्मा ही सिद्ध नहीं हुआ।—इस प्रकार पर के कारण जो पर्याय की उत्पत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसकी पर्याय में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में सदृशपना और विसदृशपना दोनों विद्यमान है। गुणों की ध्रुवता अपेक्षा से सदृशता है अर्थात् एकरूपता रहती है—गुण ज्यों के त्यों रहते है; और अवस्था के उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से विसदृशता है, अर्थात् अन्य-अन्यपना है। एक अवस्था का व्यय होता है और दूसरी की उत्पत्ति होती है—इस प्रकार उसमें विसदृशपना है, किन्तु गुणों में से एक का व्यय होकर दूसरे की उत्पत्ति हो—ऐसा नहीं है; वे तो ज्यों के त्यों रहते हैं, इसलिये उनमें सदृशपना है। पर्याय में 'विसदृशपना' कहा, वह वहीं विकारीपना सूचित नहीं करता; परिवर्तनपना सूचित करता है। सिद्ध भगवन्तों को सदैव ज्यों की त्यों निर्मल पर्याय ही होती रहती है, तथापि वहाँ भी पर्याय का विसदृशपना तो है ही। ज्यों की त्यों पर्यायें होने पर भी, पहली पर्याय दूसरी नहीं है और दूसरी वह तीसरी नहीं है—इस प्रकार विसदृशपना है।

ध्रुव शक्तिरूप से वस्तु एकरूप होती है किन्तु पर्यायरूप से एकरूप नहीं होती। यदि ध्रुवरूप से एकरूप न हो और विसदृश हो तो आत्मा चेतन मिटकर जड़ हो जाये; किन्तु ऐसा नहीं होता। चेतन तो चेतनरूप ध्रुव रहता है और यदि पर्याय से भी एकरूपता हो तो संसार पर्याय दूर होकर मोक्ष पर्याय हो ही नहीं सकती। किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तु ध्रुवरूप से सदृश-एकरूप रहती है, तथापि पर्याय में उत्पाद-व्ययरूप विसदृशपना है।—ऐसा वस्तु का स्वभाव है। उत्पाद-व्यय, यह दोनों एक ही नहीं है; उत्पाद तो सद्भाव है और व्यय अभाव है; वे दोनों एक ही समय में होने पर भी उनमें भिन्न-भिन्न पर्याय की विवक्षा है। जो नष्ट हो गई, उस पर्याय की अपेक्षा से व्यय है, वर्तमान वर्तती हुई पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद है और अखण्डरूप गुण की अपेक्षा से ध्रुवता है।—ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुव का स्वरूप है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव सहित अस्तित्व है, और ऐसे अस्तित्वमय परिणामशक्ति है। ज्ञानमात्र आत्मा के अनुभव में यह शक्ति भी साथ ही है। यह शक्ति न हो तो परिणाम ही कहाँ से होगा? ज्ञान को अंतरोन्मुख करके पूर्ण आत्मा को लक्ष बनाकर उसका

अनुभव करने से एक साथ यह सब शक्तियाँ उसमें परिणमित हो रही हैं—निर्मलरूप से उल्लसित हो रही है।

प्रश्न : पर्याय में विकार भी है तो सही ?

उत्तर : विकार है, वह सचमुच शक्ति का परिणमन नहीं है, क्योंकि शक्ति का परिणमन वास्तव में उसी को कहते हैं जो शक्ति के साथ अभेद होकर निर्मलरूप से परिणमित हो। जो शक्ति का आश्रय छोड़कर पर के आश्रय से विकाररूप परिणमित हो, उसे वास्तव में शक्ति का परिणमन नहीं कहते। साधक को अनंत शक्ति के पिण्डरूप आत्मा के आश्रय से शक्ति का निर्मल परिणमन होता है; और किंचित् अशुद्धता है, वह शुद्धद्रव्य की दृष्टि में अभूतार्थ है—गौण है, इसलिये उसका अभाव ही माना है। पर्याय में अल्प विकार होने पर भी उसका अभाव कहना, वह अपूर्व अन्तर्दृष्टि की बात है; वह उसी की समझ में आ सकती है, जिसकी दृष्टि शुद्ध द्रव्य पर हो।

यहाँ जिन शक्तियों का वर्णन किया है, उनमें से कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जो आत्मा के अतिरिक्त जड़ में भी है; किन्तु यहाँ तो आत्मा की ही बात है; और उसमें भी जिसकी पर्याय में आत्मा की प्रसिद्धि हुई है—ऐसे साधक जीव को लक्ष करके वह बात कही है। ज्ञानमात्र आत्मा के अनुभव में साधक को अनंत शक्तियाँ किस प्रकार उछलती हैं, वह वहाँ बतलाना है। अज्ञानी को तो आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है, आत्मा के ज्ञान लक्षण की भी उसे खबर नहीं है; वह तो राग लक्षणवाला या शरीर लक्षणवाला ही आत्मा को मानता है; आत्मा की या उसकी शक्ति की उसे खबर ही नहीं है। अहो ! इन शक्तियों का वर्णन करके तो आचार्यदेव ने आत्मा के स्वभाव की अद्‌भुत महिमा प्रसिद्ध की है; ज्ञानमात्र आत्मा में कितनी गंभीरता भरी है, उसे खोलकर बतलाया है।

प्रश्न : यदि एक ज्ञानमात्र भाव में ही इन सब शक्तियों का समावेश हो जाता है, तो फिर इतनी सारी शक्तियों का अलग-अलग वर्णन किसलिये करते हो ? इन सब शक्तियों को समझने में तो बड़ी मेहनत होती है।

उत्तर : अरे भाई ! इन शक्तियों को समझ ले तो अंतर में आनन्द की तरंगें उछलने लगें। इसे समझने में 'मेहनत' नहीं है किन्तु अनंत काल की थकावट दूर करने का यह मार्ग है। और 'ज्ञानमात्र भाव में समस्त शक्तियों का समावेश हो जाता है'—ऐसा कहा, वह तो अभेद अनुभव की अपेक्षा से कहा है अर्थात् ज्ञान को अंतरोन्मुख करके जहाँ अभेद आत्मा को अनुभव में लिया, वहाँ कहीं भिन्न-भिन्न शक्तियों का विचार नहीं है, वहाँ तो अभेद आत्मा के परिणमन में समस्त शक्तियाँ

एक साथ निर्मलरूप से परिणमित हो रही हैं।—इस प्रकार ज्ञानमात्र भाव में समस्त शक्तियों का समावेश हो जाता है - ऐसा कहा है; किन्तु अकेले ज्ञानगुण में कहीं अन्य समस्त गुण नहीं आ जाते। यदि एक गुण में दूसरे समस्त गुण आ जायें, तब तो एक गुण स्वयं ही पूर्ण द्रव्य हो गया!—किन्तु ऐसा नहीं है। '**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः**' द्रव्य के आश्रय से अनंत गुण विद्यमान हैं, किन्तु एक गुण के आश्रय से दूसरे गुण नहीं हैं—इस प्रकार अनंत गुण से अभेदरूप आत्मवस्तु की दृष्टि करने के लिये यह वर्णन है। आत्मा का स्वभाव अनेकान्तमय किस प्रकार है अर्थात् उसमें अनंत धर्म किस प्रकार है, वह स्पष्ट समझाने के लिये आचार्यदेव ने यह वर्णन किया है। इसलिये जिज्ञासुओं को यह बात अवश्य ही समझना चाहिये।

इस एक आत्मा का अन्य पदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिये यहाँ पर के साथ सम्बन्ध की बात ही नहीं है; और विकार की भी बात नहीं है, क्योंकि पर के साथ का सम्बन्ध छोड़ देने से अकेले आत्मस्वभाव में विकार नहीं है। विकार, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह तो आत्मा के स्वभाव की बात है; आत्मा के स्वभाव में कैसे-कैसे धर्म विद्यमान हैं, वह यहाँ बतलाते हैं। इस प्रकार 'अनेकान्त' आत्मा को पर से अत्यन्त भिन्न और अपने अनंत धर्मों से परिपूर्ण बतलाता है।—ऐसे आत्मा को जानना, उसकी श्रद्धा करना, अनुभव करना, वह मुक्तिमार्ग है।

जगत में अनंत द्रव्य हैं, वे सब 'सत्' है। आत्मा भी अनंत हैं, प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है; द्रव्य का लक्षण 'सत्' है, वह सत्पना उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित है; और वह उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने स्वभावभूत ही है; उत्पाद-व्यय और ध्रुवता, यह तीनों मिलकर द्रव्य का सत्पना है। 'ध्रुवता' अर्थात् वस्तु में नित्य-स्थायी रहने का भी स्वभाव है और 'उत्पाद-व्यय' अर्थात् बदलने का भी स्वभाव है। स्थायी रहना और बदलना—यह दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं किन्तु यह दोनों मिलकर ही द्रव्य का सत्पना है।—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवतायुक्त सत्ता के बिना द्रव्य के परिणाम सिद्ध नहीं हो सकते। इस प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा की परिणामशक्ति उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्तामय है। एक परिणामशक्ति में नित्यपना और अनित्यपना दोनों का समावेश होता है। नित्यता का निर्णय करनेवाला तो अनित्य है; यदि पर्याय बदलती न हो तो अनादिकालीन अज्ञानदशा पलटकर ज्ञानदशा हुए बिना, आत्मद्रव्य की नित्यता का निर्णय कौन करेगा? नित्यता का निर्णय तो पर्याय में होता है और वह पर्याय अनित्य है तथा यदि निर्णय करनेवाला आत्मा अखंड नित्यस्थायी न हो तो उस निर्णय के फल कों कौन भोगे? और वह निर्णय किसके आधार से

करे ? इसलिये वस्तुरूप से आत्मा स्वयं नित्य भी है; सदैव 'मैं...मैं'—ऐसे संवेदन से उसकी नित्यता का अनुभव होता है; और पर्याय में दु:ख-सुख, अज्ञान-ज्ञान इत्यादि अनेक परिवर्तनों के अनुभव से उसकी अनित्यता सिद्ध होती है। हे जीव! शरीर और रागादि को अलग कर देने से अकेला ज्ञान रहा, वह भी स्वत: ऐसे परिणाम स्वभाववाला है; उसमें आनन्द है, प्रभुता है, स्वच्छता है, चैतन्यमय जीवन है।—इत्यादि अनंत शक्तियाँ तेरे ज्ञानमात्र स्वभाव का अभिनन्दन करती हैं। इसलिये तू पर की ओर न देखकर अंतर्दृष्टि करके ऐसे अपने आत्मस्वभाव को देख... अपने आत्मा के अनंत निधान को देख। उसे देखते ही तुझे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होगा और कहीं पर के आश्रय से लाभ होने की तेरे मिथ्याबुद्धि दूर हो जायेगी।

सदृशता और विसदृशता—ऐसे दोनों स्वभाववाला तेरा अस्तित्व है। अशुभ विचार बदलकर शुभ होते हैं—यह तो सबको अनुभव सिद्ध है; विसदृशता के बिना विचार परिवर्तन नहीं हो सकता। और पहले मैं अशुभ विचार में था तथा अब शुभविचार में हूँ—इसप्रकार अपनी अखण्डता का अनुभव होता है, वह सदृशता के बिना नहीं हो सकता।—इसप्रकार सदृशता और विसदृशता (अर्थात् उत्पाद-व्यय और ध्रुवता) के बिना परिणामरूप कार्य हो ही नहीं सकता। एक परिणामशक्ति में यह सब आ जाता है। परिणामशक्ति आत्मा की है, इसलिये अपनी पर्याय के उत्पाद-व्यय (सम्यक्त्व का उत्पाद, मिथ्यात्व का व्यय इत्यादि) अपने स्वभाव ही होते हैं, किन्हीं कर्म आदि निमित्तों के कारण आत्मा के परिणाम नहीं होते।

आत्मा गुणरूप से स्थायी रहता है और अवस्था से बदलता है; उत्पाद-व्ययरूप से बदलना और ध्रुवरूप से स्थायी रहना—ऐसा ही उसका स्वभाव है। उत्पाद-व्यय और ध्रुव—यह तीन भिन्न-भिन्न सत्ताएँ नहीं है किन्तु तीनों रूप एक ही सत्ता है। यदि वस्तु स्थित रहकर बदले, तभी नया कार्य होता है। यदि स्थित ही न रहे तो उसका नाश हो जाये और यदि बदले ही नहीं तो कार्य न हों। जैसे कि-लकड़ी के रजकण बदलें तो वह जलकर राख हो जाती हैं; यदि वे बदलें ही नहीं तो राख न हो। इसी प्रकार, प्रत्येक वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव है।

जैसे—दस तोला सुवर्ण की वर्तमान में हार अवस्था है, वह बदलकर चूड़ी हुई; वहाँ पूरा दस तोला सुवर्ण स्थित रहकर हार में से चूड़ी अवस्थारूप परिवर्तित हुआ है; इसलिये वह सुवर्ण स्थित भी रहा है और बदला भी है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणाम स्वभाववाली है। यहाँ वस्तु का सूक्ष्म स्वभाव समझाने के लिये सुवर्ण का स्थूल उदाहरण है।

आत्मा तो स्वाभाविक वस्तु है, सुवर्ण कहीं मूल-स्वाभाविक वस्तु नहीं है, वह तो संयोगी वस्तु है; वह संयोग की बात स्वभाव में पूरी तरह लागू नहीं होती। सुवर्ण के भाग करते-करते, जिसके किसी प्रकार दो भाग न हो सकें, ऐसा अन्तिम पाइन्ट (परमाणु) रहे, वह मूल वस्तु है। सुवर्ण तो नष्ट भी हो सकता है, किन्तु परमाणु का कभी नाश नहीं होता। यहाँ तो दृष्टान्तरूप से समझाने के लिये सुवर्ण को मूलवस्तु माना जाता है। जिसप्रकार आकार बदलने पर भी सुवर्ण तो सुवर्ण ही रहता है, लकड़ी नहीं हो जाता; और सुवर्णरूप से ध्रुव रहने पर भी उसके विविध आकार बदलते हैं। सुवर्ण तो संयोगी वस्तु होने से अल्पकाल टिकता है; उस अल्पकाल के दृष्टान्त पर से त्रिकाली वस्तु का स्वभाव समझ लेना चाहिये। आत्मा में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञानादि अवस्थाएँ बदलती हैं और ज्ञानस्वभावरूप से आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। यहाँ तो यह विशेष बतलाना है, स्थित रहकर अवस्था बदलती है, वह अपने स्वभावभूत है। किसी अन्य के कारण आत्मा स्थित नहीं रहता, और किसी अन्य के कारण उसकी अवस्था नहीं होती। इसीप्रकार अन्य समस्त पदार्थों में भी अपने-अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवता वर्तती है।

देखो, ऐसे वस्तुस्वभाव की प्रतीति, वह वीतरागता का कारण है। किसी दूसरे के कारण सुख-दुःख होते हैं, यह बात ही नहीं रहती। जगत में जो जीव दुःखी हैं, वे अपनी पर्याय के ही वैसे उत्पाद से दुःखी हैं और अपनी दुःख पर्याय को बदलकर सुख पर्याय का उत्पाद भी वे स्वयं करें तो होता है; दूसरा जीव उनकी पर्याय नहीं कर सकता। आत्मा स्वयं अनंत शक्ति का पिण्ड है, किन्तु उसकी सँभाल न करके शरीर पर लक्ष रखकर 'शरीर ही मैं हूँ'—ऐसा मानता है और शरीर में कुछ होने पर मुझे हुआ, ऐसा मानकर अपनी भिन्न सत्ता को भूल जाता है, इसलिये जीव दुःखी है। जब तक स्वयं देह से भिन्न चैतन्यसत्ता की सँभाल न करे, तब तक उसका दुःख दूर नहीं होता। यह एक सिद्धान्त है कि दुःख किसी बाह्य संयोग के कारण नहीं हुआ है, इसलिये बाह्य संयोग द्वारा दुःख दूर नहीं होता; किन्तु स्वयं विपरीत भाव से दुःख उत्पन्न करता है, वह अपने सीधे भाव से मिटता है। दूसरा कोई न तो दुःख दे सकता है और न मिटा सकता है।

देखो, 'मैं दुःख दूर करूँ'—ऐसा विचार आता है, किन्तु 'मैं आत्मा का ही नाश कर डालूँ'—ऐसा विचार नहीं आता; अर्थात् स्वयं नित्यस्थायी रहकर दुःख अवस्था बदलकर सुख अवस्था करना चाहता है। इस प्रकार 'मुझे दुःख दूर करके सुखी होना है'—इसी में उत्पाद-व्यय-ध्रुव की ध्वनि आ जाती है। आत्मा त्रिकाल है और दुःख क्षणिक है, वह दुःख दूर हो सकता है।

दु:ख कौन दूर करता है ? जिसने उत्पन्न किया वह; दूसरे देखनेवाले ने कहीं वह दु:ख उत्पन्न नहीं किया है, इसलिये वह उसे दूर नहीं कर सकता। शरीर में रोग होने पर; अपना अस्तित्व उससे भिन्न होने पर भी अपने भिन्न अस्तित्व को चूककर 'यह रोग मुझे हुआ'—ऐसी मिथ्या कल्पना से स्वयं दु:खी होता है। मैं तो चैतन्य हूँ, देह के उत्पाद-व्यय-ध्रुव से मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव बिलकुल भिन्न हैं; मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव में मेरी अनंत शक्तियाँ परिणमित हो रही हैं—इस प्रकार स्व शक्ति की सँभाल करे तो उसमें कहीं दु:ख है ही नहीं।

मैं पर का दु:ख दूर नहीं कर सकता—ऐसा ज्ञानी को भान होने पर भी, राग की भूमिका में दु:खी जीवों के प्रति (उस प्रसंग के कारण नहीं किन्तु अपने राग के कारण) करुणा आदि का भाव हो जाता है; केवली भगवान आदि वीतरागी जीवों को ऐसा राग नहीं होता। धर्मात्मा को किसी समय रोग होता है और औषधि करने का राग भी होता है, किन्तु वहाँ विवेक वर्तता है कि—रोग के कारण राग नहीं है और राग के कारण औषधि आदि की अथवा रोग मिटने की क्रिया नहीं होती; तथा राग या दवा वह कहीं दु:ख मिटने का उपाय नहीं है। मेरी सहनशीलता की निर्बलता के कारण राग होता है; वह राग भी मेरे चिदानन्दस्वरूप में नहीं है; चिदानन्दस्वरूप के आश्रय से राग टालना, वह दु:ख दूर करने का उपाय है।—इस प्रकार ज्ञानी यथार्थ उपाय को जानते हैं; इसलिये राग की ओर उसके अभिप्राय का जोर नहीं जाता, इसलिये उसका राग अत्यन्त-मंद है। अज्ञानी तो सब विपरीत मानता है—रोग के कारण राग मानता है, और राग द्वारा औषधि आदि का संयोग प्राप्त कर सकता हूँ—ऐसा मानता है; इसलिये संयोग से दु:ख दूर करने का उपाय मानता है; इसलिये उसका जोर संयोग और राग की ओर ही जाता है, इसलिये उसका राग महान शक्तिवान है।—इसप्रकार दोनों के राग सम्बन्धी अभिप्राय की दिशा में महान अंतर है।

अज्ञानी अनुकूल संयोग से सुख और प्रतिकूल संयोग से दु:ख - ऐसा मानता है; इसलिये दु:ख दूर करके सुख करने के लिये वह संयोग की ओर ही देखता रहता है, किन्तु संयोग से भिन्न अपने आत्मा की ओर देखना उसमें नहीं होता; इसलिये उसे संयोग के आश्रय से राग-द्वेष होते ही रहते हैं, वीतरागी शांति का अनुभव नहीं होता।

ज्ञानी अपने को संयोगों से सुख-दु:ख नहीं मानते; उन्हें अनुभव है कि सुख अपने स्वभाव में ही है और जितनी बहिर्मुख वृत्ति जाये, उतना दु:ख है; इसलिये वे दु:ख दूर करने के लिए पर की ओर नहीं देखते किन्तु अपने स्वभाव के आनन्द के अनुभव की ओर झुकते हैं। यहाँ आचार्यदेव

आत्मा की शक्तियाँ बतलाकर स्वद्रव्योन्मुख होना बतलाते हैं।

जगत के समस्त द्रव्य सत् हैं और उनकी परिवर्तनशीलता उनके स्वभाव से ही है; उसके बदले अज्ञानी उनकी सत्ता को अस्वीकार करके कहता है कि—मैं उन्हें बदल सकता हूँ; यानि वह सचमुच अपनी चैतन्य सत्ता को पर से भिन्न स्वीकार नहीं करता; विपरीत अभिप्राय द्वारा स्वयं अपनी सत्ता का ही घात करता है; उसका नाम आत्मघात है और उस आत्मघात को महान पाप कहा है। मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव मेरी सत्ता में ही है और पर के उत्पाद-व्यय-ध्रुव पर का सत्ता में ही है; दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है, स्व से है पर से नहीं; इसलिये एक के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में दूसरे का कोई हाथ नहीं है।—ऐसा जानकर स्वयं अपनी शुद्ध चैतन्यसत्ता को श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में अंगीकार करना और परसत्ता को अपने से भिन्न यथावत जानना,—ऐसा भेदज्ञान आत्मा को जीवित रखता है—आत्मा को प्रसिद्ध करता है; उसमें आत्मा जैसा है, वैसे स्वभाव से प्रसिद्ध होकर मुक्ति होती है।

'मैं' और 'वह'—ऐसे दो भेद होते हैं, वे ही बतलाते हैं कि स्व और परवस्तु की सत्ता भिन्न-भिन्न है; यदि भिन्न सत्ता न हो तो 'यह मैं' और 'यह वह'—ऐसे दो भेद न पड़े। स्व-पर की सत्ता भिन्न-भिन्न होने पर भी, परवस्तु के कार्य मुझसे होते हैं—ऐसा जो मानता है, वह परवस्तु की स्वतंत्र सत्ता का अधिकार छीनना चाहता है; पर को अपने आधीन मानकर उसकी स्वाधीनता को नष्ट करना चाहता है; किन्तु परवस्तु तो कहीं उसके आधीन होकर परिणमित नहीं होती; इसलिये वह अज्ञानी पर के आश्रय से परिणमित होता हुआ आकुल-व्याकुल होकर स्वयं अपनी स्वाधीनता का घात करता है। जिसप्रकार एक राजा की सत्ता पर-दूसरा राजा अधिकार करने जाये तो वहाँ युद्ध होता है; उसी प्रकार चैतन्य और जड़ दोनों पदार्थ अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता के राजा हैं, तथापि आत्मा पर को अपना मानकर उसकी सत्ता में हस्तक्षेप करने जाये तो वहाँ विसंवाद उत्पन्न हो जाता है अर्थात् आत्मा की पर्याय में शुद्धता का घात होकर अशुद्धता हो जाती है—दुःखी हो जाता है—संसार हो जाता है। पर से अत्यंत विभक्त और अपने ज्ञानादि अनंत गुणों से एकत्व - ऐसी अपनी चैतन्यसत्ता को जानकर—श्रद्धा करके उसमें स्थिर रहने से शुद्धता होती है—सुख होता है—मुक्ति होती है, और स्वभावाश्रित स्वतंत्रता से आत्मा शोभायमान होता है।

[इस लेख का शेषांश अगले अंक में पढ़िये]

पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से खिरे हुए ६८ पुष्पों की

मंगल-माला

प्रभुता के पथ पर चलनेवाले संत आत्मा में प्रभुता की स्थापना करते हैं।

१- अहो, सिद्ध भगवन्तों! साधकत्व के महोत्सव पर मेरे हृदय में पधारो।

२- हे भगवन्त! अपने ज्ञान में से रागादि को निकालकर मैं आपकी स्थापना करता हूँ।

३- जिसने अपने आत्मा में सिद्ध की स्थापना की, उसका परिणमन सिद्धदशा की ओर ढल गया।

४- समयसार के प्रारम्भ से पद-पद पर आत्मा में सिद्धों की स्थापना होती जाती है और विकार टलता जाता है।

५- 'हम प्रभुता के पथ पर चलनेवाले संत तुम्हारी (श्रोताओं की) पर्याय में भी प्रभुता की स्थापना करते हैं।'

६- आत्मा में सिद्ध भगवान जैसी शक्ति है, उसे देखकर उसमें सिद्धत्व की स्थापना करते हैं।

७- जिसने आत्मोल्लासपूर्वक सिद्धत्व का स्वीकार किया, वह भी सिद्धों की जाति में मिल जायेगा।

८- हे भव्य! ऐसे आत्मा का लक्ष बाँध तो सहज ही सम्यगदर्शन हुए बिना नहीं रहेगा।

९- श्रोता कैसे हैं?—कि अपने स्वभाव की बात अपूर्व उल्लासपूर्वक सुनते हैं।

१०- जिस भाव से वक्ता कहता है, उसी भाव से श्रोता सुनता है; इसप्रकार वक्ता-श्रोता की संधि है।

११- श्रोता को एक आत्मार्थ साधने का ही काम है, अन्य कोई रोग उसके मन में नहीं है।

१२- और वह उल्लसित वीर्यवान है—स्वीकार करके रुचिपूर्वक सुनता है।

१३- पहले सिद्ध को नहीं पहिचानता था और अब पहिचाना, इसलिये उस ओर का उल्लास उछलता है।

१४- सर्वज्ञ को पहले नहीं जाना था, और अब जाना; इसलिये वीर्य का वेग ज्ञानस्वभाव की ओर मुड़ गया है।

१५- सिद्धों की संख्या सदैव वृद्धिंगत ही है; जिसने सिद्धों को स्वीकार किया, उसकी पर्याय भी सदैव वृद्धिंगत ही है।

१६- हे जीव! इस बात को स्वीकार कर!—हाँ कहना, ना मत कहना।

१७- आत्मा के सिद्धत्व की बात सुनते ही श्रोता स्वसन्मुख लक्ष करना चाहता है।

१८- 'मैं सिद्ध, तू भी सिद्ध'—इसका स्वीकार आते ही लक्ष बदल जाता है।

१९- हमने स्वसन्मुख लक्ष किया है, तुझे स्वसन्मुख लक्ष कराते हैं।

२०- सिद्ध भगवानरूपी दर्पण में देखने से उसमें अपने शुद्ध आत्मा का ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

२१- सिद्ध का बहुमान करनेवाले को संसार के कारण का बहुमान छूट गया है।

२२- सिद्ध का बहुमान करनेवाला शुद्ध आत्मा का ही आदर करता है—उसी ओर झुकता है।

२३- जिसने सिद्ध का बहुमान किया, उसकी वृत्ति विभाव से छूटकर स्वभावोन्मुख हो गई।

२४- सिद्धदशा को साधने के लिये निकले हुए संत अपने मोक्ष के मंडप में सिद्ध भगवान को उतारते हैं।

२५- आत्मा में सिद्धभगवान की स्थापना कर ली, अब हमारी सिद्धदशा को रोकने में कोई समर्थ नहीं है।

२६- जिसने आत्मा में सिद्धभगवान की स्थापना की, उसे सिद्ध का सन्देशा आ गया।

२७- जिसने आत्मा में सिद्धभगवान की स्थापना की, उसे भव की शंका दूर हो गई।

२८- जिसने आत्मा में सिद्धभगवान की स्थापना की, उसे अल्पकाल में मोक्ष की निःशंकता हुई।

२९- 'बाह्य भाव अनंतकाल तक किये, अब हमारा परिणमन अन्तरोन्मुख हो गया है।'

३०– 'अप्रतिहत भाव से अंतर् स्वरूप में ढले सो ढले, अब सिद्धपद लेकर ही रहेंगे।'

३१– देखो, यह मोक्ष का महोत्सव मनाया जा रहा है; साधक के आँगन में मोक्ष का मंडप लग रहा है।

३२– मोक्ष लक्ष्मी का वरण करते हुए साधक, अपने हृदय में सिद्धभगवान को साथ रखता है।

३३– देखो, यह सम्यग्दर्शन! अहो! सम्यग्दर्शन तो जगत में अपूर्व अचिन्त्य महिमावन्त वस्तु है।

३४– सम्यग्दर्शन होते ही सारा परिणमन बदल जाता है; आत्मा की दशा ही पलट जाती है।

३५– सम्यग्दर्शन को अपने सिद्ध समान शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन है ही नहीं।

३६– जिसे आत्मा को समझने की तीव्राकांक्षा जागृत हुई हो, उसे अंतर में मार्ग मिल ही जाता है।

३७– 'सिद्ध समान सदा पद मेरो'—ऐसा विश्वास आये बिना साधकदशा प्रारम्भ नहीं होती।

३८– सम्यक्त्वी जीव ने अपने आत्मा में सिद्धभगवान के आनन्द का नमूना चख लिया है।

३९– सिद्धभगवन्तों को वंदन करनेवाला जीव विभाव से विमुख होकर स्वभावोन्मुख होता है।

४०– 'एक बार वंदे जो कोई, ताहि नरक पशुगति नहीं होई'—किसे वंदे? तो कहते हैं कि सिद्धभगवान को।

४१– पर्याय अन्तर्मुख होकर शुद्धस्वभाव के साथ कितनी एकता हुई, उतने ही सिद्ध को भाव नमस्कार है।

४२– शुद्धात्मा के लक्ष से सिद्धभगवान के बहुमान का विकल्प, वह द्रव्य नमस्कार है।

४३– सिद्ध को नमस्कार करनेवाला जीव साधक तो है और अल्पकाल में सिद्ध हो जायेगा।

४४– साधक का अन्तर निःशंक घोषणा करता हुआ साक्षी देता है कि अब हम प्रभु के मार्ग में लग गये हैं।

४५– साधक का हृदय अंतर में गहरा है, उसकी बाहर से कल्पना नहीं की जा सकती है।

४६- भव-भ्रमण करके थके हुए जीवों से श्रीगुरु कहते हैं कि देखो रे देखो! अंतर में चैतन्य निधान को देखो!

४७- हे जीव! तुझे चैतन्य के ऐसे निधान बतलाऊँ कि अपने आनन्द के लिये तुझे किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता न रहे।

४८- अपने चैतन्य की महिमा देखते ही तुझे आनन्द होगा और पर की महिमा छूट जायेगी।

४९- जो भव के दु:खों से वास्तव में डरता हो, वह उनके वेदन से विमुख होकर चैतन्यानन्द का वेदन करे।

५०- अंतर्दृष्टि से चैतन्य निधान को देखते ही जीव सम्यग्दृष्टि होकर मोक्षमार्ग में विचरने लगता है।

५१- बाह्यदृष्टि से अंध हुए अज्ञानी जीव अपने चैतन्य-निधान को नहीं देखते।

५२- अंतर्दृष्टि का अंजन लगाकर श्रीगुरु उसे उसके अपने निधान बतलाते हैं।

५३- हे जीव! अंतर्दृश्टि से देख तो सिद्ध भगवान जैसे निधान तुझे अपने में दिखाई देंगे।

५४- धर्मी जीव अपने आत्मवैभव को जानते हैं कि अहो! सर्वज्ञता का वैभव मुझमें भरा है।

५५- अपने स्वभाव सामर्थ्य की प्रतीति जीव को बाह्य में उछलने से रोक देती है।

५६- सम्यग्दृष्टि जीव का परिणमन अन्तरोन्मुख हो गया है और वह सर्वज्ञ का नन्दन हुआ है।

५७- सम्यक्त्वी को शुद्ध स्वभाव की ओर ही प्रेम और उत्साह है; बहिर्भावों की ओर प्रेम या उत्साह नहीं है।

५८- आत्मा में सिद्ध भगवन्तों की स्थापना करके आचार्यदेव ने अपूर्व अप्रतिहत मंगल किया है।

५९- साध्यरूप अपना शुद्ध आत्मा नमस्कार के योग्य है और साधकदशा नमस्कार करनेवाली है।

६०- सम्यग्दर्शन के प्रारम्भ से लेकर केवलज्ञान तक साधक जीव शुद्ध आत्मा में ही नमन करता रहता है।

६१- 'संसार की ओर के भाव से अब हमें संकोच होता है, हम शुद्धात्मा में समा जाना चाहते हैं।'

६२– 'अपने चिदानन्द ध्रुव स्वभाव के अतिरिक्त बाह्य के संयोग अब हमें स्वप्न में भी नहीं चाहिये।'

६३– 'चैतन्यस्वरूप में ढला हुआ जो हमारा परिणमन, उसके फल का भी अंतर में ही समावेश होता है।'

६४– हे जीव! अंतर में स्वभाव भरा है, उसके ऊपर भार दे और बाह्यवृत्ति को छोड़।

६५– अपने चैतन्य के आनन्द का वेदन करने में रागादि के वेदन का आधार नहीं है।

६६– अरे जीव! आत्मा में ही विद्यमान परमात्मशक्ति की प्रतीति करके अपने आत्मिक शौर्य को उछाल।

६७– शुद्ध उपादान के अभेद आलंबन से ही शुद्धि की उत्पत्ति–बढ़ती और स्थायीपना होने का नियम है।

६८– आत्मा के परम पारिणामिकस्वभाव की महिमा करना, वह आत्मा का मंगल–नूतनवर्ष है।

पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से निकले हुए इन ६८ पुष्पों की माला
भव्य जीवों को कल्याणकारी हो।

आत्मार्थी जीवों के आत्मिक शौर्य को उल्लसित करनेवाले
पूज्य गुरुदेव जयवंत वर्तें!

दर्शनशुद्धि से ही आत्मसिद्धि

[दर्शनशुद्धि प्रगट करना भगवान का प्रधान उपदेश है]

(श्री मोक्षपाहुड़ गाथा ३९-४० के प्रवचन तथा रात्रि चर्चा से)

दर्शनशुद्धि के लिये सात तत्त्वों की प्रतीति कैसी होती है... और उस प्रतीति का कितना अधिक जोर है... वह इस प्रवचन में पूज्य गुरुदेव ने अत्यन्त सरल शैली से समझाया है।

अहो! श्रद्धा का बल अपार है... जगत के समस्त तत्त्वों का निर्णय उसमें आ जाता है... वह पहला प्रधान कर्तव्य है।

पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि—सम्यक्त्वी अपने ज्ञायकस्वभावी आत्मा को दृष्टि में लेकर उसी में आराम करता है... आतमराम में रहना ही सच्चा आराम है... आत्मस्वभाव की उन्मुखता के बिना सुख हराम है... भाई, एकबार अपनी चैतन्य विभूति को प्रतीति में ले... तो तेरी दर्शनशुद्धि हो...

दर्शनशुद्धि के बिना देह शुद्धि अथवा आहार शुद्धि भले ही करे, किन्तु उसमें कहीं आत्मा की सिद्धि नहीं होती और जिसे दर्शन की शुद्धि जागृत हुई है, वह धर्मात्मा चाहे जहाँ, चाहे जिस संयोग में स्थित हो, तथापि उसे दर्शनशुद्धि के प्रताप से शुद्धता अखंडरूप से वर्तती है और उसी को दर्शनशुद्धि से आत्मा की सिद्धि-मुक्ति प्राप्त होती है।

तत्त्वार्थश्रद्धान में वीतरागी अभिप्राय का अनंत बल है; उस श्रद्धान में राग का कर्तृत्व नहीं रहा है, पर की कर्ताबुद्धि नहीं रही है; स्वभावोन्मुख होकर ज्ञायकरूप से ही अपने को प्रतीति में लिया है; ऐसी प्रतीति का इतना जोर है कि उसके कारण जीव, रागादिरूप परिणमित नहीं होता; ज्ञायक-सन्मुख दृष्टि से शुद्धता ही करता जाता है। इस प्रकार दर्शनशुद्धि से ही आत्मा की सिद्धि है।

सर्व उद्यमपूर्वक सम्यग्दर्शन ग्रहण करने का भगवान का मुख्य उपदेश है। जिसने शुद्ध आत्मा को दृष्टि में लेकर दर्शनशुद्धि प्रगट की, उसने भगवान के उपदेश का सार ग्रहण किया; जो जीव दर्शनशुद्धि नहीं करता, आत्मा को अशुद्ध ही अनुभव करता है, उस जीव ने वास्तव में भगवान का उपदेश ग्रहण नहीं किया।

आत्मा स्वयं परम आनन्दस्वरूप है; वह आनन्द, पर्याय में परिपूर्ण प्रगट होने का नाम मोक्षदशा है। मोक्ष अर्थात् आत्मा की पूर्ण शुद्धता; लेकिन वह शुद्धता कैसे होती है ?—तो कहते हैं कि प्रथम—'मैं शुद्ध ज्ञानानन्द आत्मा हूँ'—ऐसी शुद्ध दृष्टि करना चाहिये। जिसने अपने शुद्ध आत्मा को दृष्टि में लेकर दर्शनशुद्धि प्रगट की है, वह आत्मा सम्यग्दर्शन द्वारा शुद्ध है; उसे जो दर्शनशुद्धि है, वह मोक्ष का कारण है।

दर्शनशुद्धि में सातों तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा आ जाती है। **उस श्रद्धा का बल अपार है।** जगत में सात तत्त्व हैं; उनमें जीव और अजीव तो सामान्य रूप हैं; तथा आश्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-यह उनकी विशेष पर्यायें हैं। जीव के विशेष जीव से हैं और अजीव की विशेष पर्यायें अजीव से हैं। अजीव भी अनन्त पदार्थ हैं, उस प्रत्येक पदार्थ की विशेष पर्यायें उसके अपने से होती हैं। जो त्रिकाल शक्तिरूप जीव-अजीव पदार्थ हैं, वे जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व हैं, तथा दूसरे पाँचों तत्त्व, वे उनकी पर्यायें हैं। जीव की आश्रव-बंध या संवर-निर्जरा-मोक्षरूप पर्यायें तो जीव के कारण हैं; अजीव के कारण नहीं। पुद्गल कर्म में आश्रव-बंध या संवर-निर्जरा आदि अवस्थायें होती हैं, वे उसके सामान्य अजीव पदार्थ की पर्यायें हैं; तथा कर्म के अतिरिक्त अजीव की अन्य जो-जो पर्यायें (लकड़ी, शरीर, घड़ा आदि) हैं, वे सब पर्यायें भी उस-उस सामान्य अजीव पदार्थ से होती हैं; जीव के कारण नहीं। इसप्रकार जगत में सामान्यरूप जीव-अजीवतत्त्व अनन्त हैं और उनका रूपान्तर या क्षेत्रान्तररूप विशेष उन्हीं के कारण है।—जीवादि तत्त्वों की श्रद्धा करने से ऐसी प्रतीति होती है। इसके सिवा जीव के कारण अजीव की पर्याय या अजीव के कारण जीव की पर्याय होती है—ऐसी प्रतीति करे तो उसने जीव-अजीवादि तत्त्वों को यथार्थरूप से नहीं समझा है और इसीलिये उसे दर्शनशुद्धि नहीं है।

राग, वह आश्रव है—जीवतत्त्व का विशेष है, वह अजीव के कारण नहीं है; शरीर की क्रिया आदि हो, वह अजीवतत्त्व का विशेष है, वह जीव के कारण नहीं है। जीव अनन्त हैं और अजीव अनन्तानंत हैं; उनकी संख्या जगत में सदैव उतनी की उतनी है; उनमें एक भी कम-अधिक नहीं होता। वे समस्त तत्त्व जगत में त्रिकाल अपने से ही हैं; और उस प्रत्येक तत्त्व की विशेष पर्यायें भी अपने-अपने से हैं। मेरे कारण जगत में दूसरों का कुछ नहीं है और दूसरों के कारण मेरा कुछ नहीं है, अजीव की पर्याय में अजीव है और जीव की पर्याय में जीव है।—बस! ऐसी अनन्त पदार्थों की स्वतंत्रता को श्रद्धा का बल स्वीकार करता है। अपने अतिरिक्त जगत के किसी भी जीव या

अजीव की पर्याय मैं नहीं हूँ, तथा मेरे कारण उन किसी की पर्याय नहीं है, मैं तो ज्ञायकस्वभावी जीवतत्त्व हूँ,—इसप्रकार सातों तत्त्वों को जानकर ज्ञानस्वभावी जीवतत्त्व के सन्मुख होकर स्वसंवेदनपूर्वक उसकी प्रतीति की, वही 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' है। सम्यग्दर्शन में प्रतीति का बल कितना है - उसकी यह बात है। ऐसी दर्शनशुद्धि से ही आत्मसिद्धि होती है।

देखो, जगत में मोक्षतत्त्व है, अर्थात् पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप दशा को प्राप्त सर्वज्ञ हैं,—उन सर्वज्ञ की प्रतीति करने जाये तो उसमें आत्मा की शक्ति की ओर उन्मुखता हुये बिना न रहे, क्योंकि आत्मा की शक्ति में सर्वज्ञ होने की शक्ति है, उसी में से सर्वज्ञता और पूर्णानन्द प्रगट होता है। **सात तत्त्वों में जीवतत्त्व की प्रतीति करने जाये तो उसमें साथ ही ऐसे मोक्षतत्त्व की प्रतीति भी आ जाती है, और मोक्षतत्त्व की प्रतीति करने जाये अथवा सर्वज्ञ की प्रतीति करने जाये तो उसमें शुद्ध जीवतत्त्व की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है। जीव के ज्ञानानन्दस्वभाव की सन्मुखता के बिना सात तत्त्वों में से एक भी तत्त्व की प्रतीति यथार्थ नहीं होती।** चौथे गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक सातों तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति हो गई है, वह श्रद्धा अन्त तक टिकी रहती है, सम्यक्श्रद्धान में सातों तत्त्वों की जो यथार्थ प्रतीति आई है, वह रहने के लिये आई है।

मुनिदशा हो—छट्ठे-सातवें गुणस्थान की दशा प्रगट हो और वस्त्रों का संयोग छूट जाये, वहाँ मुनि को प्रतीति में ऐसा नहीं आता कि मेरे कारण यह वस्त्र छूट गये हैं। पहले भी जब सम्यग्दर्शन हुआ, तब ऐसा प्रतीति में नहीं था कि यह वस्त्र मेरे कारण रहे हैं! वस्त्रों की क्रिया अजीव है, मेरे राग के कारण वह अजीव की पर्याय होती है—ऐसा सम्यक्त्वी की प्रतीति में नहीं है। उसे निज परमेश्वर की प्रभुता प्रतीति में आई है और अजीवतत्त्व को भी उसने जगत के स्वतन्त्र तत्त्वों के रूप में प्रतीति में लिया है। जगत में **अजीव है, शुभराग भी है, सम्यग्दर्शनादि** भी हैं और मैं ज्ञायकतत्त्व हूँ—इसप्रकार समस्त तत्त्वों की प्रतीति सम्यग्दृष्टि को वर्तती है, उसमें राग के कारण अजीव, या अजीव के कारण राग—इसप्रकार दो तत्त्वों की एकता वे नहीं मानते; एक-दूसरे के कारण-कार्य को एक-दूसरे में नहीं मिलाते। इसलिये उनकी श्रद्धा में जीव का अंश भी अजीव में एकमेक नहीं करते और अजीव का अंश भी जीव में एकमेक नहीं करते। जीव-अजीवतत्त्वों को ज्यों का त्यों भिन्न-भिन्न जानकर अपने ज्ञायकस्वभाव में ही आराम करते हैं, वही सच्चा आराम है। आतमराम में रहना ही सच्चा आराम है, वही शुद्धता है। ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की प्रतीति करके

दर्शनशुद्धि करना ही सच्ची शुद्धि है और ऐसी दर्शनशुद्धि से ही आत्मसिद्धि होती है। इसके सिवा बाह्य की देहादि-आहारादि की शुद्धि को वास्तव में शुद्धि नहीं कहते। **दर्शनशुद्धि के बिना देहशुद्धि या आहारशुद्धि भले हो किंतु उसमें कहीं आत्मा की सिद्धि नहीं होती। और जिसे दर्शन की शुद्धि जागृत हुई है, वह चाहे जहाँ चाहे जिस संयोग में स्थित हो, तथापि उसे दर्शनशुद्धि के प्रताप से शुद्धता अखण्डरूप से वर्तती है, तथा उसी को आत्मा की सिद्धि-मुक्ति प्राप्त होती है।**

चौथे गुणस्थान से जो दर्शनशुद्धि हुई है, उसमें सातों तत्त्व प्रतीति में आ गये हैं; पश्चात् पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में आगे बढ़ने पर प्रतीति तो ज्यों की त्यों बनी रहती है और शुद्धता बढ़ती जाती है। **भाई! एकबार अपनी चैतन्य विभूति को प्रतीति में तो ले!** अनंत जीव, अनंत अजीव जगत में हैं, वे सभी स्वतंत्र तत्त्व हैं; उनमें किसी के कारण किसी की पर्याय नहीं होती। मैं तो जगत के जीव-अजीवतत्त्वों से भिन्न ज्ञायक हूँ, मेरा जीवतत्त्व अन्य से नहीं है।—ऐसे प्रतीति के बिना दर्शनशुद्धि नहीं होती और दर्शनशुद्धि के बिना आत्मा की शुद्धता नहीं होती। दर्शनशुद्धि से ही आत्मा की शुद्धि होती है।

★ आत्मा की श्रद्धा के साथ ही सर्वज्ञ की और मोक्ष की श्रद्धा होती है।

★ सर्वज्ञ की श्रद्धा के साथ ही आत्मा की और मोक्ष की श्रद्धा होती है।

★ मोक्ष की श्रद्धा के साथ ही आत्मा की और सर्वज्ञ की श्रद्धा होती है।

★ आत्मा की, सर्वज्ञ की और मोक्ष की श्रद्धा एकसाथ ही होती है।

★ ज्ञानस्वभाव की ओर देखने से उन सबकी प्रतीति एक साथ हो जाती है।

आत्मोन्मुख होकर उसकी श्रद्धा करने से संवर-निर्जरा-मोक्ष की भी श्रद्धा आ जाती है, और उनसे विरुद्ध ऐसे अजीव-आस्रव-बंधतत्त्वों की श्रद्धा भी हेयरूप से आ जाती है।

आत्मा के ओर की अस्ति में संवर-निर्जरा-मोक्ष आते हैं और उसमें अजीव-आस्रव-बंध का नास्तिरूप परिणमन है। जिसे अहित दूर करके अपना हित करना हो, उसे सातों तत्त्व मानना चाहिये।

★ मुझे हित करना है;

★ वर्तमान में अहित है;

★ वह अपने में है;

★ वह दूर हो सकता है;

★ वह अपने में से आता है;

★ जिसमें हित होने की शक्ति है, वह जीवतत्त्व नित्यस्थायी है;

★ उसमें से हित प्रगट हुआ, उसका नाम संवर-निर्जरा-मोक्ष है;

★ अहित है, वह आस्रव और बंध;

★ आत्मा के अपने ही आश्रय से अहित नहीं होता;

★ अहित किसी विरुद्ध पदार्थ के आश्रय से होता है;

★ जीव से विरुद्ध तत्त्व वह अजीव;

★ अजीव के आश्रय से अहित है;

★ अहित क्षणिक है, वह बदल कर हित हो सकता है, आत्मा नित्यस्थायी रहता है।

—इसप्रकार सातों तत्त्वों के स्वीकार बिना हित की सच्ची बुद्धि नहीं हो सकती।

हित का कारण-जीवतत्त्व का अवलम्बन।

अहित का कारण-अजीवतत्त्व का अवलम्बन।

अहितरूप - आस्रव और बंधतत्त्व

हितरूप-संवर-निर्जरा मोक्षतत्त्व।

—इसप्रकार सातों तत्त्वों को पहिचानकर अपने शुद्ध जीवतत्त्व की ओर उन्मुख होने से सम्यग्दर्शनादि होते हैं, वे संवर-निर्जरारूप हैं। और निज शुद्धजीवास्तिकाय के अवलंबन द्वारा अजीव का अवलंबन छूटने से आस्रव-बंध छूटते जाते हैं। जीवतत्त्व में पूर्ण लीनता होने से पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा प्रगट हो जाती है और अजीव का सम्बन्ध छूट जाता है।—ऐसी मोक्षदशा, वह साक्षात् पूर्ण हितरूप है।

एक शुद्ध ज्ञायकतत्त्व को लक्ष में लेकर प्रतीति में लिया, वहाँ संवर-निर्जरारूप शुद्ध परिणति उसमें अभेद हो गई, आस्रव-बंधरूप अशुद्ध पर्याय पृथक् हो गई, अजीव भी बाहर रह गया;—इसप्रकार शुद्धपर्याय सहित आत्मा की अस्ति और उसमें अजीव की तथा अशुद्धता की नास्ति—ऐसी यथार्थ प्रतीति करने का नाम दर्शनविशुद्धि है; वह दर्शनविशुद्धि ही मुक्ति का कारण है।

जगत में जितने जीव और अजीवतत्त्व हैं, उतनी ही उन प्रत्येक की एक-एक पर्याय है।

प्रत्येक तत्त्व की पर्याय भिन्न-भिन्न अपने-अपने में है। जीव की पर्याय जीव में, अजीव की अजीव में;—एक अजीव की पर्याय एक अजीव में और दूसरे अजीव की पर्याय दूसरे अजीव में; इस जीव की पर्याय इस जीव में, अन्य जीवों की पर्याय अन्य जीवों में। सर्वज्ञ की प्रतीति की, वहाँ सर्वज्ञ की पर्याय सर्वज्ञ में और मेरी पर्याय मुझमें; किसी एक के कारण दूसरे की पर्याय नहीं है।—देखो, यह तत्त्वश्रद्धान! इसमें वीतरागी अभिप्राय का अनन्त बल है; उस श्रद्धान में राग का कर्तृत्व नहीं रहा, पर की कर्ताबुद्धि नहीं रही; स्वभावोन्मुख होकर ज्ञायकरूप से ही अपने को प्रतीति में लिया है। ऐसी प्रतीति का इतना जोर है कि उसके कारण जीव रागादिरूप परिणमित नहीं होता; ज्ञायकोन्मुख दृष्टि से शुद्धता ही करता जाता है। इसप्रकार दर्शनशुद्धि से ही आत्मा की सिद्धि है। सातवें नरक में रहनेवाला जो जीव ऐसी सात तत्त्वों की प्रतीति करके दर्शनशुद्धि करता है, वह जीव वहाँ नरक में भी शुद्ध है; और जिसे सात तत्त्वों की प्रतीति नहीं है, दर्शनशुद्धि नहीं है, वह जीव भले ही सर्वज्ञ भगवान के समवशरण में बैठा हो, तथापि अशुद्धि में ही पड़ा है। शुद्ध आत्मा के भान बिना आत्मा की शुद्धि कैसी? सम्यक्त्वी को सातों तत्त्वों की तथा शुद्ध आत्मा की प्रतीति के बल से आत्मा की शुद्धता हुई है; इसलिये जिसे दर्शनशुद्धि है, वह आत्मा शुद्ध है। 'दर्शनशुद्धि से ही आत्मसिद्धि है'—ऐसा जैनशासन का मुद्रालेख कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने कहा है।

❀❀❀

जो दर्शन से शुद्ध है, वही शुद्ध है; जो रागादि से लाभ मानता है, वह चैतन्य को मलिन करता है। राग से पार शुद्ध चैतन्यतत्त्व जिसकी प्रतीति में नहीं आया, उसके शुद्धता कहाँ से होगी? पुण्य करके स्वर्ग में चला जाये, तथापि अज्ञानी जीव अशुद्ध है, और ज्ञानी शुद्ध आत्मा की दृष्टि में सदैव शुद्ध है। जिसे जैसी दृष्टि है, वैसी ही पर्याय की उत्पत्ति होती है। शुद्ध आत्मा की दृष्टि में शुद्ध पर्याय की उत्पत्ति, और 'विकार सो मैं हूँ'—ऐसी अशुद्ध दृष्टि में अशुद्ध पर्याय की ही उत्पत्ति होती है। **अहो! मेरा ज्ञान मुक्त ही है, राग से कभी नहीं बंधा है, आनन्द के साथ सदैव अभेद है;**—इसप्रकार ज्ञानतत्त्व की प्रतीति करना, वह दर्शनशुद्धता है, और दर्शनशुद्धिवाले ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं; जिसे दर्शनशुद्धि नहीं है, वह इष्ट लाभ प्राप्त नहीं कर पाता। अनन्त जीव, मोक्ष को प्राप्त हुए, उन सबने सम्यग्दर्शन की शुद्धता से ही मोक्ष प्राप्त किया है। जिसमें से शुद्धता प्रगट करना है, उसकी प्रतीति के बिना शुद्धता कहाँ से आयेगी? सुवर्ण की खान में सोना भरा है, उसे खोदने पर ही सोना निकलेगा; किंतु लोहे की खान खोदने से सोना कैसे निकल सकता है? उसीप्रकार जीव को

मोक्ष अर्थात् पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट करना है। उस आनन्द की खान तो यह आत्मा है; आत्मा के स्वभाव की खोज करे, उसकी अंतर्दृष्टि करके एकाग्र हो—तो अंतर से आनन्द का अनुभव प्रगट हो; किंतु राग की या देह की खान खोदे तो उसमें कहीं आनन्द नहीं भरा है। जहाँ आनन्दस्वभाव भरा है – ऐसे शुद्ध चैतन्यतत्त्व की दृष्टि के बिना कभी आत्मा की शुद्धता नहीं होती। जिसे मोक्ष प्राप्त करना हो—आत्मा की पूर्ण शुद्धता चाहता हो, उसे प्रथम तो शुद्ध आत्मा को दृष्टि में लेकर दर्शनशुद्धि करना चाहिये। दर्शनशुद्धि ही मोक्ष का मूल है। सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध आत्मा की रुचि; जिसे शुद्ध आत्मा की रुचि है, वही पूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष को प्राप्त करता है; जिसे शुद्ध आत्मा की रुचि नहीं है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता। इसप्रकार सम्यग्दर्शन ही मोक्ष प्राप्ति का मुख्य कारण है। इसलिये आचार्य भगवान ने मुद्रालेख रचा है कि दर्शनशुद्धिवाला ही शुद्ध है और दर्शनशुद्धि से ही आत्म सिद्धि प्राप्त होती है, इसलिये सर्वप्रकार के उद्यम से दर्शनशुद्धि करने का उपदेश है।

अब कहते हैं कि—भगवान के उपदेश में सम्यग्दर्शन के ग्रहण का मुख्य उपदेश है, वही सारभूत है। सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध आत्मा की अंतर्दृष्टि करना ही भगवान के उपदेश का सार है। भगवान का उपदेश शुद्ध आत्मा बतलाने के लिये है; **जिसने शुद्ध आत्मा को दृष्टि में लेकर दर्शनशुद्धि प्रगट की, उसने भगवान के उपदेश का सार ग्रहण किया; जो जीव दर्शनशुद्धि नहीं करता। आत्मा का अशुद्ध ही अनुभव करता है, उस जीव ने वास्तव में भगवान का उपदेश ग्रहण नहीं किया है।** भगवान के उपदेश में सारभूत सम्यग्दर्शन है, वह जन्म-जरा-मरण का नाश करनेवाला तथा मुक्ति प्राप्त करानेवाला है। अहो! श्रमण या श्रावक—सभी को प्रथम तो दर्शनशुद्धि का ही भगवान का उपदेश है; दर्शनशुद्धि के बिना सच्चा श्रावकत्व या श्रमणत्व नहीं होता। सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही चारित्रदशा होती है।

देखो, जगत के समस्त तत्त्वों में जीवतत्त्व ही उत्तम है; और जीव के भावों में भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही उत्तम है; तथा उसमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है; उसके द्वारा जीव का परम हित होता है; उसके बिना ज्ञान-चारित्रादि सब मिथ्या हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन को प्रधान जानकर उसी को अंगीकार करने का उपदेश है। **सर्वज्ञ का उपदेश सर्वज्ञता की ओर ले जाना है। वीतराग का उपदेश वीतरागता का ही पोषक है।** प्रथम ज्ञानानन्दस्वभाव की वीतरागी दृष्टि करो, उस दृष्टिपूर्वक ही यथार्थ ज्ञान-चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन के बिना वास्तव में सर्वज्ञ की भी सच्ची प्रतीति नहीं होती। सम्यग्दर्शन ही सर्व उपदेश का मूल सार है। सम्यग्दर्शन

हुआ, वहाँ मोक्ष का मार्ग हाथ आ गया... आत्मा की दशा पलट गई... भगवान का उपदेश ऐसा कहता है कि अरे जीवो! तुम्हारे आत्मा में पूर्ण परमात्मशक्ति विद्यमान है, उसके सन्मुख दृष्टि करो! जिसने ऐसी दृष्टि प्रगट की, उसी ने भगवान का उपदेश झेला है। इसके अतिरिक्त शुभरागादि से लाभ मानकर रुक जाये, तो उसने भगवान का उपदेश सुना ही नहीं है; क्योंकि राग से धर्म हो—ऐसा भगवान का उपदेश है ही नहीं। आत्मा के शुद्ध चिदानन्दस्वभाव को मुख्य करके निश्चयनय से उसे प्रतीति में लेकर सम्यग्दर्शन करना, वह जैनधर्म का प्रधान उपदेश है, क्योंकि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, और सम्यग्दर्शन की शुद्धि से ही आत्मा की सिद्धि होती है। इसलिये सर्व उद्यमपूर्वक सर्वप्रथम दर्शनशुद्धि प्रगट करना ही भगवान का प्रधान उपदेश है।

जय हो दर्शनशुद्धि धारक संतों की!

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यंति जात्यंधा इव भास्करम्॥

[परमानन्द स्तोत्र]

अहो! ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, और वह निजदेह में व्यवस्थित है; तथापि—जिसप्रकार जन्मांध प्राणी सूर्य को नहीं देख सकते, उसीप्रकार ध्यानहीन जीव उसे नहीं देख सकते।

समवशरण में सर्वज्ञ देव द्वारा कहा गया
और
कुन्दकुन्दाचार्य देव द्वारा झेला गया

सर्वज्ञ होने का उपाय

(समवशरण-प्रतिष्ठा के वार्षिक महोत्सव प्रसंग पर श्री प्रवचनसार गाथा-४१ पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन)

[वीर सं० २४८१, ज्येष्ठ कृष्णा ६]

(१) सीमंधर प्रभु का समवशरण

आज यहाँ समवशरण की स्थापना का दिवस है। इस ओर (पूर्व दिशा में) महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर परमात्मा साक्षात् तीर्थंकररूप से विराजमान हैं; वहाँ समवशरण की दैवी रचना है और इन्द्र-चक्रवर्ती आदि भगवान की सेवा करने आते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव वहाँ भगवान के साक्षात् दर्शन करने गये थे। उन श्री सीमंधर भगवान के समवशरण की यहाँ स्थापना हुई, उसका आज मंगल दिवस है।

(२) कुन्दकुन्दाचार्यदेव, सीमंधर भगवान के समवशरण में....

इस भरतक्षेत्र में कुन्दकुन्दाचार्यदेव हुए हैं, वे महान अध्यात्म की मूर्ति थे और आत्मा के आनन्द में झूलते थे; उनके समय में इस भरतक्षेत्र में साक्षात् तीर्थंकर भगवान का विरह था। एकबार आचार्यदेव को भगवान का विरह खटका और ध्यान में सीमंधर भगवान के समवशरण का चिंतवन किया। उन्हें धरती से चार अंगुल ऊपर चलने की लब्धि थी। उनकी महान पात्रता के योग से और शासन के महाभाग्य से उन्हें महाविदेह में साक्षात् सीमंधर परमात्मा के पास आने का योग बना। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने आठ दिन तक भगवान की दिव्यध्वनि सुनी तथा श्रुतकेवलियों का परिचय किया और फिर भरतक्षेत्र में आकर इन प्रवचनसार-समयसारादि शास्त्रों की रचना की। समवशरण में सीमंधर भगवान ने क्या कहा, वह बात आचार्यदेव इस प्रवचनसार में कहते हैं। अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस पंचम काल में तीर्थंकर जैसा कार्य किया है।

(३) ज्ञान को विकसित करने का प्रयोग

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है; ज्ञान उसका परम स्वभाव है; उस ज्ञान का अतीन्द्रिय स्वभाव है। किसी भी साध्य-साधन का प्रयोग करने से ज्ञान विकसित हो - ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, किन्तु अंतर के ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता के प्रयोग से ही वह ज्ञान विकसित होता है, इसलिये हे जीव! तू अपने ज्ञानस्वभाव-सन्मुख होकर उसका निर्णय कर तो मोक्षमार्ग हो।

(४) अतीन्द्रिय ज्ञान में आनंद है

आत्मा का ज्ञानस्वभाव इन्द्रियों से पार है, यह इन्द्रियाँ उससे भिन्न हैं, ज्ञान की और इन्द्रियों की एकता नहीं है। जो अपने स्वभाव का अवलम्बन करके अतीन्द्रियरूप से वर्ते, वही ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और वही आनन्द के अनुभव सहित है। जो इन्द्रियाधीन वर्तता है, वह ज्ञान पराधीन तथा आकुलतामय होने से हेय है। चिदानन्दस्वभाव की ओर ढलकर साधक का ज्ञान अंतर में अभेद हुआ, वही मुख्य है, और उसमें इन्द्रियों का या राग का अवलम्बन नहीं है, किन्तु आनन्द का ही अनुभव है। बीच में अपूर्ण ज्ञान में इन्द्रियों का अवलम्बन तथा राग रहा, वह तो हेय है, वह कहीं आदरणीय नहीं है।—इसप्रकार स्वभाव में ज्ञान की एकता हो और इन्द्रियों का अवलम्बन टूटे, वही उपादेय है, उसमें आनन्द का अनुभव है।

(५) सर्वज्ञ का निर्णय, वहाँ भ्रान्ति का अभाव

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और उस स्वभाव का पूर्ण सामर्थ्य विकसित हो जाने पर सर्वज्ञता प्रगट होती है। इस जगत में आत्मा के ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन द्वारा ज्ञान की दिव्यशक्ति प्रगट करके सर्वज्ञ हुए परमात्मा यह हैं—इसप्रकार जिसने अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय करके उसका बहुमान किया, उसे ज्ञान का और राग का भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहता, तथा फिर उसे भ्रान्ति की उत्पत्ति होती ही नहीं।—इसप्रकार सर्वज्ञ का निर्णय करने से भ्रान्ति का अभाव होकर सम्यग्दर्शन होता है।

(६) सर्वज्ञ का निर्णय अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा होता है।

वर्तमान में स्वयं को अल्पज्ञान होने पर भी उस ज्ञान में सर्वज्ञता का निर्णय किया, वह किसके बल से किया? वह निर्णय इन्द्रियों के या राग के बल से नहीं किया किन्तु सर्वज्ञ का निर्णय करते हुए अपने ज्ञानस्वभाव में उतरकर ज्ञान के परिपूर्ण सामर्थ्य का निर्णय किया है। इसप्रकार ज्ञान के परिपूर्ण सामर्थ्य का निर्णय भी अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही होता है।—इसप्रकार स्वभाव की

सन्मुखता द्वारा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से सम्यग्दर्शन होता है और मिथ्यात्व की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये सर्वज्ञ का इस प्रकार निर्णय करनेवाला जीव, मोक्षमार्ग में लग जाता है—सर्वज्ञता का साधक हो जाता है।

(७) ज्ञान स्वभाव के निर्णय बिना सर्वज्ञ के मार्ग का प्रारम्भ नहीं होता

ज्ञानस्वभावी आत्मा में ज्ञान की परिपूर्ण सर्वज्ञता प्रगट करनेवाले अनंत सिद्ध भगवान इस जगत में हैं, लाखों केवली-अरिहंत भगवान मनुष्य लोक में विराज रहे हैं,—इसप्रकार जहाँ सर्वज्ञ की सत्ता का निर्णय करने जाये, वहाँ अपने ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता हुए बिना नहीं रहती। ज्ञान -स्वभाव में गहराई तक उतरने पर ही सर्वज्ञ का निर्णय होता है। अपने को सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व भी स्वभाव में सर्वज्ञ होने का सामर्थ्य विद्यमान है, उसका निर्णय आत्मा के आधार से हो सकता है, और ऐसा नि:शंक निर्णय हुए बिना सर्वज्ञ होने का पुरुषार्थ प्रारम्भ हो ही नहीं सकता। स्वभाव सामर्थ्य के निर्णय से ही वास्तविक मार्ग का प्रारम्भ होता है।

(८) हे जीव! अपने आत्मा में एकबार सर्वज्ञ का रंग चढ़ा

जिसने सर्वज्ञ का निर्णय किया, और मेरे आत्मा में भी सर्वज्ञ होने की शक्ति है—इसप्रकार स्वभाव-सामर्थ्य का निर्णय किया, उसने अपने आत्मा में सर्वज्ञता की मुहर लगा दी। जैसी मुहर हो, वैसी ही आकृति बनती है; उसी प्रकार सर्वज्ञ का निर्णय करके जिसने अपने आत्मा में सर्वज्ञता की मुहर लगा ली, उसके आत्मा में सर्वज्ञता का ऐसा रंग चढ़ा... कि अल्पकाल में वह स्वयं सर्वज्ञ हो जाता है। देखो, यह रंग!! इसे आत्मा का रंग लगा कहा जाता है। राग से और इन्द्रियों से ज्ञान होता है-ऐसा मानकर अनादि से ज्ञान में राग का और निमित्त का रंग चढ़ाया है; उसके बदले सर्वज्ञ का निर्णय करे और मेरे ज्ञान में सर्वज्ञ होने का सामर्थ्य है—ऐसा निश्चय करके ज्ञान में सर्वज्ञता का रंग चढ़ाये तो अपने आत्मा में सर्वज्ञता की मुहर लग जाये—स्वयं सर्वज्ञ हो जाये। इसलिये हे जीव! एकबार अपने आत्मा में सर्वज्ञता का रंग चढ़ा।

(९) सर्वज्ञदेव द्वारा कहा गया सर्वज्ञ होने का उपाय

भगवान ने समवशरण में दिव्यध्वनि द्वारा कहा है कि अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके उसके सन्मुख एकाग्र हो, वह सर्वज्ञ होने का उपाय है। हम इसी उपाय से मोह का नाश करके सर्वज्ञ हुए हैं और तुम्हारे लिये भी वही उपाय है।—ऐसा उपाय भगवान ने स्वयं किया और मुमुक्षुओं के लिये भी इसी उपाय का उपदेश दिया। इसके सिवा दूसरा उपाय है ही नहीं।

(१०) आत्मा में सर्वज्ञ भगवान की प्रतिष्ठा

अहो, केवलज्ञान की उत्कृष्ट महिमावंत दशा!! उसे स्वीकार करनेवाला जीव अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना नहीं रहता। जिसने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर केवलज्ञान की महिमा की, उसे अपूर्व सम्यग्दर्शन हुआ... उसने अपने आत्मा में सर्वज्ञ भगवान की प्रतिष्ठा की.... केवली भगवान जैसे ही आनन्द का उसे अनुभव हुआ... ऐसा भावश्रुत प्रगट हुआ, वह केवलज्ञानी भगवान की भक्ति है और वही परमार्थतः अपूर्व महोत्सव है। भावश्रुत के बल से जिसने अपने आत्मा में सर्वज्ञ भगवान की प्रतिष्ठा की, वह स्वयं अल्प काल में साक्षात् सर्वज्ञ हो जाता है।

जय हो सर्वज्ञ देव की!

सम्यक्त्व की महिमा सूचक

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा कौन सा गृहस्थ श्रेष्ठ है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्गी नहीं है; इसलिये मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है। *(— रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ३३)*

प्रश्न—जीव को कल्याणकारी कौन है ?

उत्तर—तीन काल और तीन लोक में प्राणियों को सम्यक्त्व के समान अन्य कोई श्रेयरूप नहीं है। *(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ३४)*

सूत्र के पदों का और पदार्थों के स्वरूप का

निश्चय करने की रीति

'निश्चयनय द्वारा सूत्र के पदों एवं अर्थों का निश्चय होता है'

[यह है शास्त्रों का अर्थ खोलने की कुंजी (मास्टर की)]

(श्री प्रवचनसार गा० २६८ पर पूज्य गुरुदेव के महत्वपूर्ण प्रवचनों से)

[लेखांक पहला]

यह प्रवचनसार की २६८ वीं गाथा पढ़ी जा रही है। यह चरणानुयोग सम्बन्धी अधिकार होने पर भी, 'यथार्थ वस्तुस्वरूप का निर्णय निश्चयनय द्वारा होता है'—यह बात आचार्यदेव साथ ही साथ बतलाते हैं; क्योंकि यह मूल प्रयोजनभूत बात है। निश्चयनय द्वारा सूत्र के पदों का और अर्थों का निश्चय किये बिना चरणानुयोग या मुनिदशा यथार्थ होती ही नहीं। इसलिये आचार्यदेव इस गाथा में कहते हैं कि मुनि 'सूत्रार्थ निश्चयवंत' होते हैं, अर्थात् मुनि ने सूत्र के पदों को और अर्थों को निश्चय किया है। सूत्र के पदों का और अर्थों का निश्चय किसप्रकार होता है।—तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि टीका में कहते हैं कि—'विश्व का वाचक', 'सत्' लक्षणवाला ऐसा जो पूर्ण शब्दब्रह्म और उस शब्दब्रह्म का वाच्य 'सत्' लक्षणवाला ऐसा जो सम्पूर्ण विश्व, उन दोनों के ज्ञेयाकार अपने में युगपद् गुँथ जाने से (ज्ञातृतत्त्व में एक ही साथ निर्णीत होने से) उन दोनों के अधिष्ठानभूत 'सत्' लक्षणवाला **ज्ञातृतत्त्व निश्चय द्वारा 'सूत्र के पदों और अर्थों के निश्चयवाला होता है'**....

देखो, यह मुक्ति का लक्षण! और सूत्र के पदों का तथा उसके वाच्यरूप अर्थ का निश्चय करने की यह रीति! संपूर्ण विश्व के किसी भी पदार्थ का निर्णय निश्चयनय द्वारा होता है, क्योंकि निश्चयनय यथार्थ वस्तुस्वरूप को बतलानेवाला है; और व्यवहारनय तो एक-दूसरे में आरोप करके कथन करता है, इसलिये उसके द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप का निर्णय नहीं होता।

यहाँ तो पूर्ण शब्दब्रह्म का अर्थात् भगवान के कहे हुए चारों अनुयोग के समस्त शास्त्रों का तथा उसके वाच्यरूप सम्पूर्ण विश्व का अर्थात् सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय का

निर्णय करने की बात है। वह निर्णय किस प्रकार होता है ? कि निश्चयनय द्वारा सूत्र के पदों और अर्थों का निश्चय होता है। जो निश्चयनयानुसार यह तो नहीं समझते हैं कि वस्तु -स्वरूप क्या है और व्यवहारनय के कथनानुसार ही वस्तुस्वरूप मान लेते हैं, उन्हें सूत्र के पदों का या अर्थ का निश्चय करना नहीं आता।

शब्द, अर्थ और ज्ञान—यह तीनों सत् हैं। शब्दब्रह्म विश्व का वाचक है और सत् लक्षणवाला है; उस शब्दब्रह्म के वाच्यभूत सम्पूर्ण विश्व है, वह भी सत् लक्षणवाला है, उसे 'अर्थ' कहा जाता है। ऐसे शब्द और अर्थ - इन दोनों का निर्णय करनेवाला ज्ञान भी सत् लक्षणवाला है।

सूत्र और अर्थ दोनों के स्वरूप को अपने ज्ञान में जाननेवाले ज्ञाता तत्त्व को ही मुनिदशा होती है। वह ज्ञानतत्त्व कैसा होता है ? कि - सूत्र के पदों और अर्थों के निश्चयवाला होता है;—किसप्रकार ?—कि निश्चयनय द्वारा।

देखो, सूत्रों के पद की और वस्तु के स्वरूप की जिसे निश्चयनय द्वारा खबर नहीं है और मात्र व्यवहार को ही जानता है, उसका ज्ञान 'सत्' नहीं है; मुनि 'सूत्रार्थ निश्चयवंत' होते हैं। सूत्र क्या है, अर्थ क्या है, अर्थात् वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय क्या हैं और उनका निश्चय करनेवाला ज्ञान कौन है - इन तीनों की बात इसमें आ जाती है।

प्रथम ऐसा निश्चय होना चाहिये कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ; मेरा ज्ञानतत्त्व सर्वज्ञेयों का निश्चय करनेवाला है।—इस प्रकार अपने ज्ञानतत्त्व का निर्णय करना, वह 'सूत्रार्थ निश्चय' है; क्योंकि सूत्रों का मुख्य प्रयोजन ज्ञानस्वभाव बतलाने का है; और ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय निश्चयनय द्वारा होता है, अकेले व्यवहार द्वारा ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं होता। निश्चय द्वारा ज्ञानस्वभाव का निर्णय किये बिना किसी भी तत्व का (उपादान-निमित्त का, देव-गुरु-धर्म का, शास्त्र का आदि) यथार्थ निर्णय होता ही नहीं और तत्त्व के निर्णय बिना एकाग्रतारूप मुनिदशा नहीं हो सकती। इसलिये कहा है कि—'ज्ञातृतत्त्व निश्चयनय द्वारा सूत्र के पदों और अर्थों के निश्चयवाला होता है...' अर्थात् मुनियों ने निश्चयनय के अवलम्बन से सूत्रों का और सूत्रों में वस्तुस्वरूप का निश्चय किया होता है।

निश्चयनय से सूत्रों में पदार्थ का वास्तविक स्वरूप क्या बतलाया है - उसकी जिसे खबर न हो, और निश्चय अर्थ भूलकर मात्र व्यवहार में ही मग्न होकर वर्ते, वह जीव सूत्र के अर्थ में प्रवीण नहीं है किन्तु पथभ्रष्ट है, भगवान की आज्ञा से बाहर है; क्योंकि भगवान के कहे हुये सूत्रों के

अभिप्राय की उसे खबर नहीं है और अपने मिथ्या अभिप्राय से वह शास्त्रों का विपरीत अर्थ करता है।—ऐसे विपरीत दृष्टि का पोषण करनेवाले जीव भी वास्तव में लौकिक जन जैसे ही हैं। यहाँ ऐसा कहना है कि ऐसे विपरीत दृष्टि पोषक लौकिक जनों के संग से संयमी मुनि भी असंयत हो जाते हैं, इसलिये वह लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है।—देखो, शास्त्र का यह कथन भी निमित्त से है। वहाँ शास्त्रों का अर्थ समझने की चाबी लगाकर अर्थ समझना चाहिये।—कौन सी चाबी? **'निश्चयनय द्वारा सूत्र के पदों का और अर्थों का निश्चय होता है।'—यह सर्व शास्त्रों का अर्थ सुलझाने की कुंजी (मास्टर की) है।** इसलिये यहाँ भी पर संग से भ्रष्ट होना कहा, उसमें भी कुंजी लगाकर निश्चय द्वारा ऐसा निर्णय करना चाहिये कि वास्तव में पर के कारण भ्रष्ट नहीं होते किन्तु अपनी ही पर्याय के अपराध के कारण भ्रष्ट होते हैं। अपने असंग चैतन्यस्वभाव के संग से च्युत होकर परसंग का प्रेम हुआ, वही भ्रष्टपना है; परनिमित्त के कारण भ्रष्ट होना कहा, वह व्यवहार कथन है, यानी सचमुच ऐसा नहीं है। निश्चयनय का कथन स्व-पर को एक-दूसरे में किंचित् एकमेक किये बिना ज्यों का त्यों—यथार्थ वस्तुस्वरूप बतलाता है और व्यवहारनय तो स्व-पर को एक-दूसरे में मिलाकर कथन करता है। इसलिये यदि निश्चयनय को भूलकर व्यवहार के अनुसार अर्थ करने जाये तो यथार्थ वस्तु स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में पं० टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में स्पष्टीकरण किया है। वहाँ शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति बतलाते हुये वे कहते हैं कि—

व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को तथा उसके भावों को तथा कारण-कार्यादिक को किसी का किसी में मिलाकर निरूपण करता है; इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, अतएव उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसी का यथावत् निरूपण करता है तथा किसी को एकमेक नहीं करता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, अतएव उसका श्रद्धान करना चाहिये।

पुनश्च, जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है—तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण करते हुये वे बतलाते हैं कि—

''जिनमार्ग में किसी स्थान पर तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ—ऐसा ही है'-ऐसा जानना चाहिये, तथा कहीं व्यवहार की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे 'ऐसा नहीं है किंतु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है'—ऐसा

जानना चाहिये, और इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किंतु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'इसप्रकार भी है तथा इसप्रकार भी है'—ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नय ग्रहण करने को नहीं कहा।''

समयसार में भी कहा है कि व्यवहारनय अभूतार्थ है, इसलिये उसके आश्रय से सम्यक्दर्शन नहीं होता। शुद्धनय भूतार्थ है, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है:—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो दु देसिदो सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥११॥

यहाँ प्रवचनसार के चालू अधिकार में भी—'निश्चयनयान्निश्चितसूत्रार्थ पदत्वेन....' निश्चयनय द्वारा सूत्र के पदों और अर्थों का निश्चय होना कहकर मूल सिद्धान्त बतलाया है। जैन शासान का यह मूल रहस्य है, यह समस्त प्रश्नों के हल की चाबी (मास्टर की) है।

अब, इसप्रकार निश्चयनयरूपी चाबी (मास्टर की) से शास्त्रों का अर्थ समझने के कुछ उदाहरण लें:—

'ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान आवृत होता है'—ऐसा शास्त्र में कहा है; वहाँ निश्चयनय रूपी चाबी लागू करके उसका अर्थ ऐसा समझना चाहिये कि वास्तव में तद्नुसार नहीं है, किन्तु वह तो निमित्त में आरोप करके व्यवहार का कथन है। निश्चय से तो ज्ञान और कर्म दोनों पृथक् हैं, इसलिये कर्म के कारण ज्ञान की अवस्था नहीं रुकी है, किन्तु अपनी योग्यता से ज्ञान की अवस्था हीनरूप परिणमित हुई है, वहाँ कर्म का निमित्तपना देखकर व्यवहारनय से एक का दूसरे में आरोप कर दिया कि कर्म के कारण ज्ञान ढँका है;—किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इस प्रकार निश्चयनय द्वारा सूत्र के अर्थ का ऐसा निर्णय करना चाहिये कि ज्ञानावरणीय कर्म के कारण ज्ञान नहीं रुका है; ज्ञान और जड़ कर्म दोनों पृथक्-पृथक् हैं।—इसप्रकार निश्चयनय द्वारा समझने से ही यथार्थ वस्तुस्वरूप का और सूत्र का ज्ञान होता है। यदि इसप्रकार न समझे तथा व्यवहारनय के कथनानुसार ही मान ले तो दो पदार्थों की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होगी, इसलिये यथार्थ वस्तु स्वरूप का या सूत्र का निर्णय नहीं होगा और न अज्ञान मिटेगा।

प्रश्न:—निश्चयनय को ही यथार्थ मानना और व्यवहारनय को यथार्थ नहीं मानना—उसमें एकांत नहीं है ?

उत्तर:—नहीं; निश्चयनय को तो यथार्थ मानना और व्यवहारनय को आरोपित जानना

अर्थात् वास्तव में ऐसा नहीं है—उसका नाम अनेकान्त है; उसी में दोनों नयों की संधि है। इसीप्रकार निश्चयनय को भूतार्थ जानना और व्यवहारनय को अभूतार्थ जानना—इसी में दोनों नयों की संधिरूप अनेकांत है तथा उसी में दोनों नयों का यथार्थ स्वरूप से स्वीकार है। **इसके अतिरिक्त व्यवहार के आरोप कथन को भी निश्चय के समान ही यथार्थ मान ले तो उसने निश्चय या व्यवहार दो में से एक भी नय का स्वरूप नहीं जाना।**

देखो; यह शास्त्रों का अर्थ समझने की रीत! निश्चयनय के बिना सच्चा अर्थ समझ में नहीं आता। शास्त्रों में जो व्यवहारनय का कथन हो, वह अभूतार्थ को बतलानेवाला होने से उसके द्वारा यथार्थ पदार्थ ज्ञान नहीं होता। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि सूत्र और अर्थ का निर्णय निश्चय द्वारा होता है।

- आगम का कथन किस प्रकार समझना चाहिये ?

—कि निश्चयनय द्वारा।

- वस्तु का स्वरूप किसप्रकार समझना चाहिये ?

—कि निश्चयनय द्वारा।

- शास्त्र में व्यवहार से कथन किया हो तो ?

—तो वहाँ भी निश्चयनय द्वारा वस्तु का सच्चा स्वरूप क्या है, वह ढूंढ़ निकालना चाहिये; किन्तु व्यवहार कथनानुसार ही वस्तु स्वरूप नहीं मानना चाहिये। इसी प्रकार शास्त्रों के पदों का और अर्थों का वास्तविक स्वरूप समझ में आता है।

इसी गाथा में कहते हैं कि—जो जीव संयत हो, वह भी लौकिक संग से असंयत ही हो जाता है; इसलिये लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है।—यह भी उपदेश का व्यवहार कथन है। पर के कारण भ्रष्ट होना कहना, वह व्यवहारनय का कथन है अर्थात् वास्तव में ऐसा नहीं है। निश्चयनय द्वारा ऐसा समझना चाहिये कि अपनी पर्याय अपने कारण है।

पुनश्च, २७० वीं गाथा में भी कहेंगे कि—जो दुःख से मुक्त होने का अर्थी हो - ऐसे मोक्षार्थी को समान गुणवाले के साथ अथवा अधिक गुणवाले के साथ सदैव वास करना योग्य है। जिस प्रकार शीतल स्थान में रखा हुआ जल शीतल रहता है, उसी प्रकार समान गुणवाले धर्मात्मा के संग से अपने गुणों की रक्षा होती है; और जिस प्रकार अधिक शीतल ऐसे बर्फ के संग से पानी अधिक शीतल बन जाता है, उसी प्रकार विशेष गुणवाले धर्मात्मा के संग से अपने गुणों की वृद्धि होती है;—इसलिये सत्संग करने योग्य है और असत्संग अर्थात् लौकिक संग छोड़ने योग्य है।

देखो, इसमें परसंग के कारण गुण रक्षा अथवा गुण वृद्धि होती है—ऐसा कहा है, वह भी उपदेश का व्यवहार वचन है। मुनियों को वृत्ति उठे और परसंग की ओर लक्ष जाये तो ऐसे निमित्तों की ओर ही लक्ष जाता है किन्तु अन्य असत्संग की ओर लक्ष नहीं जाता।—इतना निमित्तपना देखकर, उस निमित्त के कारण ही गुण की रक्षा तथा गुण की वृद्धि होना व्यवहारनय से कह दिया है; वहाँ निश्चयनय द्वारा—'वास्तव में ऐसा नहीं है किन्तु अपने भाव के कारण ही गुण की रक्षा अथवा वृद्धि होती है'—ऐसा यदि न जाने और सचमुच पर के कारण ही गुण की रक्षा या वृद्धि होना मान ले, तो वह जीव पर संग छोड़कर स्वोन्मुख होगा ही क्यों? इसलिये व्यवहार के कथन को यथार्थ स्वरूप नहीं मानना किन्तु उपचार समझना; और निश्चयनय द्वारा यथार्थ वस्तु स्वरूप का निर्णय करना चाहिये। ऐसा निर्णय करने के पश्चात् ही मुनिदशा होती है।

शास्त्रों में ऐसा कहते हैं कि जिनबिम्ब दर्शन, वह सम्यक्त्व का कारण है; जिनेन्द्रदेव के दर्शन से मिथ्यात्वकर्म के खंड-खंड हो जाते हैं। जिनबिम्ब दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्म भी चूर-चूर हो जाते हैं।—इत्यादि प्रकार से षट्खण्डागम आदि शास्त्रों में आचार्य भगवान ने कहा है; वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि यह कथन व्यवहारनय का है; वास्तव में पर के दर्शनों से सम्यग्दर्शन नहीं होता, अथवा पर के कारण कर्मों का नाश नहीं होता। किसी पात्र जीव को वीतरागी जिनबिम्ब के दर्शन करते हुए ऐसा अंतर्लक्ष हो जाये कि—'अहो! मेरा आत्मा ऐसा वीतरागी अक्रिय चैतन्य बिम्ब है'—इस प्रकार अपने आत्मस्वभाव के दर्शन से सम्यक्त्व प्रगट करे, वहाँ 'जिनबिम्ब दर्शन से सम्यक्त्व हुआ'—इस प्रकार व्यवहारनय निमित्त में आरोप करके कथन करता है। वहाँ निश्चयनय को लक्ष में रखकर ऐसा समझना चाहिये कि—सम्यक्त्व का सच्चा कारण यह नहीं है, किन्तु उपचार से ही उसे कारण कहा गया है।

गोम्मटसार जी में ऐसा आता है कि कर्म के उदय से क्रोध हुआ; वहाँ वह कथन किस नय का है?—कहते हैं—व्यवहारनय का।—तो निश्चयनय से उसका क्या स्वरूप है? निश्चयनय से तो कर्म और क्रोध दोनों बिलकुल भिन्न वस्तुएँ हैं; क्रोध तो जीव का भाव है और कर्म जड़ है;—इस प्रकार दोनों पृथक् हैं; इसलिये कर्म के कारण वास्तव में क्रोध नहीं होता किन्तु जीव की पर्याय की ही वैसी योग्यता से क्रोध हुआ है—ऐसा निश्चयनय से जानना, वह यथार्थ है; उस क्रोध के समय कर्म निमित्त है—ऐसा जानना भी बराबर है; किन्तु कर्म के कारण क्रोध हुआ - ऐसा कहना वह तो निमित्त में आरोप करके व्यवहारनय का कथन है; तदनुसार वस्तुस्वरूप नहीं है।—इसप्रकार

निश्चयनय द्वारा ही यथार्थ वस्तु स्वरूप का बोध होता है। **निश्चयनय द्वारा पदार्थ के स्वरूप का निर्णय किये बिना शास्त्र के एक भी कथन का सच्चा अर्थ नहीं होता।**

निश्चय अर्थात् स्वाश्रय; वस्तु के द्रव्य-गुण और पर्याय—यह तीनों 'स्व' हैं, और उसके आश्रय से निश्चयनय यथार्थ वस्तुस्वरूप बतलाता है।

व्यवहार अर्थात् पराश्रय; वस्तु के अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के अतिरिक्त अन्य के कारण उसमें कुछ भी होना बतलाये, वह व्यवहारनय का पराश्रित कथन है; अर्थात् वस्तु का स्वरूप तदनुसार नहीं है—ऐसा समझना चाहिये। स्वाश्रयानुसार अर्थ करके समझने से ही पदार्थ का वास्तविक स्वरूप पहिचाना जाता है।

देखो, यह सूत्रों का अर्थ समझने की कुंजी!

'कर्म से विकार हुआ'—ऐसा कहते हैं; किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है; क्योंकि विकार वह स्व (अपनी पर्याय है, इसलिये स्व) है, और कर्म वह पर है; उस पर के कारण स्व की पर्याय होना कहना, सो पराश्रित कथन है अर्थात् व्यवहारनय का कथन है; निश्चयानुसार वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है।

पर के संग से जीव को लाभ-हानि होती है; रत्नत्रय के आराधक धर्मात्मा के संग से गुण की पुष्टि होती है और पुण्य को ही धर्म माननेवाले मिथ्यादृष्टि लौकिकजनों के संग से जीव भ्रष्ट हो जाता है—इसप्रकार चरणानुयोग में व्यवहारनय का कथन है, उसमें साथ ही निश्चयनय की बात रखकर आचार्यदेव स्पष्टीकरण कहते हैं कि हमने व्यवहार से कथन किया हो वहाँ, और निश्चयनय से कथन किया हो वहाँ, निश्चयनय लक्ष में रखकर अर्थ समझना चाहिये। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अपने से हैं और पर से नहीं हैं—इस प्रकार निश्चयनय द्वारा पदार्थ का निश्चय करना चाहिये। और पर के कारण गुण-दोष होना कहना सो व्यवहार कथन है, इसलिये उसका यह अर्थ समझना चाहिये कि वास्तव में वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं है। इस शैली से निश्चय-व्यवहार के अर्थ समझे, तभी सूत्रों का सच्चा अर्थ समझा कहा जाता है और तभी यथार्थ वस्तुस्वरूप समझ में आता है; इसलिये यह (Master Key) है अर्थात् इस दृष्टि से ही सर्व शास्त्रों में अर्थों का हल और पदार्थ के स्वरूप का निर्णय होता है।

जितने शब्दसमय हैं तथा जितने अर्थसमय हैं, उन सबका निर्णय निश्चयनय द्वारा होता है। व्यवहारनय के कथन द्वारा सूत्र का या पदार्थ के स्वरूप का निश्चय नहीं होता। इसलिये कहा है कि

जिस ज्ञाता ने निश्चयनय द्वारा सूत्रों का और पदार्थों का निश्चय किया हो, उसी को मुनिपना होता है। जो निश्चय को तो जानते नहीं हैं और वे व्यवहार को ही सत्यार्थ जानकर आचरते हैं, वे तो पदार्थ के निश्चयस्वरूप को न जाननेवाले तथा सूत्र को भी न जाननेवाले स्वेच्छाचारी हैं, भ्रष्ट हैं।

गोम्मटसार हो अथवा समयसार हो, नियमसार हो अथवा अष्टसहस्री हो, आदि पुराण हो या प्रवचनसार हो, षट्खण्डागम हो या रत्नकरण्ड श्रावकाचार हो—चाहे जिन आचार्य का अथवा चाहे जिस शास्त्र का कथन हो, किन्तु उसका अर्थ तभी समझ में आ सकता है, जब निश्चयनय द्वारा समझे। शास्त्रों का अर्थ समझने की यह कुंजी चारों अनुयोग के शास्त्रों को लागू होती है। अर्थ यानी द्रव्य-गुण-पर्याय सब कुछ; उसके स्वरूप का निर्णय निश्चयनय द्वारा होता है। पर्याय का पर से होना कहा हो तो उसे उपचार जानकर स्वाश्रित स्वरूप से क्या है, वह निश्चयनय से समझ लेना चाहिये। स्वाश्रित तत्त्व के ज्ञानपूर्वक ही पराश्रित व्यवहार का (निमित्तादि का) ज्ञान बराबर होता है। स्वाश्रित तत्त्व का स्वरूप जाने बिना पर को (निमित्तादि को) जानना चाहे तो वहाँ पर में एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्व हो जाता है। इसलिये वस्तु के स्वाश्रितस्वरूप को बतलानेवाली निश्चयनयरूपी (Master Key) लागू करके समस्त शास्त्रों के अर्थ खोल लेना चाहिये।—यह एक ही नियम सर्वत्र लागू करना चाहिये। यदि यह एक नियम अच्छी तरह जानता हो तो शास्त्रों में हजारों विवक्षा के चाहे जैसे कथन आने पर भी उनका अर्थ समझने में उलझन नहीं होगी;—ऐसा यह अमोघ मंत्र है।

लोग पुकार करते हैं कि यह तो निश्चय की बात है, किन्तु पहले कुछ व्यवहार तो बतलाओ! उसका स्पष्टीकरण इसमें आ जाता है कि निश्चयनय द्वारा शास्त्र के अर्थों को समझकर जो वस्तुस्वरूप का निर्णय करे, उसी को व्यवहार की खबर पड़ती है। निश्चय से वस्तुस्वरूप को जाने बिना व्यवहार का भान यथार्थ नहीं होता; क्योंकि निश्चय को जाने बिना व्यवहार को जानना चाहेगा तो वह व्यवहार को ही निश्चय मानकर मूढ़ता का पोषण करेगा। जो निश्चय से स्वाश्रित वस्तु स्वरूप को जान ले, उसे इसका भी ज्ञान हो जाता है कि पर निमित्त और राग कैसे होते हैं। निश्चयरूपी नेत्र खोलकर जो स्वयं अपने को नहीं जानता और पर से भिन्न स्वतत्त्व के ज्ञान बिना मात्र राग को या पर को जानना चाहता है, वह तो अंध है, उसे तो व्यवहार का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता; वह तो व्यवहार को ही सच्चा स्वरूप मानकर स्व-पर की एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्व का ही सेवन करता है।

अहो! इस निश्चयनय में तो जैनदर्शन का रहस्य है। निश्चयनय के बिना जैनदर्शन का रहस्य समझ में नहीं आता। यह हजारों-लाखों-सभी आगमों का अर्थ समझने की कुंजी है। इस निश्चयनय में जगत के समस्त पदार्थों के स्वरूप का निर्णय करने की शक्ति है। निश्चयनय वस्तु के स्वरूप को स्वतत्त्व के आश्रय से देखता है। परवस्तु को पृथक् रखकर स्वतत्त्व के आश्रय से वस्तु का अपना (द्रव्य, गुण या पर्याय का) स्वरूप क्या है, उसे समझे तभी यथार्थ ज्ञान होता है; और ज्ञान निश्चयनय से ही होता है। व्यवहारनय तो पर के आश्रय से कथन करता है, इसलिये उससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं होता। इसलिये व्यवहारनय के कथन को यथार्थ वस्तुस्वरूप न मानकर उसे उपचार समझना चाहिये। निश्चयनय तो कहता है कि स्व और पर दोनों भिन्न हैं; किसी का अंश दूसरे में नहीं है, इसलिये पर का कुछ भी कारणपना स्व में नहीं है।—इसप्रकार वह यथार्थ भिन्न-भिन्न स्वरूप को बतलाता है और व्यवहारनय तो निमित्त में उपचार करके स्व की बात में पर से होना कहता है; इसलिये जो जीव उस व्यवहार के कथनानुसार ही सचमुच वस्तुस्वरूप मान ले, उसे वस्तु के सत्यस्वरूप की पहिचान नहीं होती। बात स्वतत्त्व की चल रही हो और उसमें पर को एकमेक करके जाने तो वहाँ पर से भिन्न स्वतत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; इसलिये स्व-पर को एक-दूसरे में किंचित् भी एकमेक किये बिना निश्चयनयानुसार वस्तुस्वरूप को जानना ही शब्द-ब्रह्म के हल की कुंजी है, वही वस्तु स्वरूप के सम्यग्ज्ञान का उपाय है। चारों अनुयोगों की पृथक्-पृथक् कथन शैली भले ही हो; कुन्दकुन्दप्रभु का कथन हो अथवा समन्तभद्रस्वामी का; किन्तु उसके अर्थ का निश्चय तो निश्चयनय द्वारा ही होता है। जहाँ-जहाँ व्यवहार का कथन हो, पर से लाभ-हानि होना कहा हो, निमित्त से कार्य का होना कहा हो, निमित्त का प्रभाव कहा हो, निमित्त द्वारा विलक्षणता होना कहा हो, वहाँ सर्वत्र निश्चयनय को लागू करके निःशंकता से समझ लेना चाहिये कि ऐसा नहीं है। शास्त्रों में व्यवहारनय के कथन अनेक हैं किंतु वस्तु स्वरूप वैसा नहीं है; इसलिये व्यवहार के आश्रय का फल संसार है और निश्चयनय से यथार्थ वस्तु स्वरूप को समझने का फल मोक्ष है।

समयसार गाथा ११ और २७२ में कहते हैं कि—''भूयत्थमस्सिदो खलु सम्मइट्ठी हवइ जीवो'' अर्थात् भूतार्थ का आश्रय करनेवाला जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है; और ''णिच्छयणयासिदो पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं'' अर्थात् निश्चयनयाश्रित मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं—इन दोनों में शुद्ध द्रव्यदृष्टि की बात है। वहाँ विकार स्व में नहीं आता और यहाँ प्रवचनसार

में निश्चयनय से सूत्र तथा अर्थों का स्वरूप जानने को कहा, उसमें तो द्रव्य-गुण-पर्याय—यह तीनों अपने निश्चय हैं, विकारी पर्याय भी निश्चय से स्व है; वह विकार अपनी पर्याय से हुआ है, पर के कारण नहीं हुआ;—ऐसा निश्चयनय जानता है और इसप्रकार विकार को निश्चयनय से अपना जाननेवाले जीव की दृष्टि तो अपने शुद्धस्वभाव पर है। वह अपने शुद्ध स्वभाव तथा विकार दोनों को जानता है। इसप्रकार निश्चयनयानुसार अर्थ समझने से सर्व शास्त्रों के कथन की यथार्थ संधि ज्ञात होती है; कहीं परस्पर विरुद्धता भासित नहीं होती। और अज्ञानियों का तो कहीं मेल ही नहीं बैठता; निश्चयनय के बिना वे वस्तु स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाते।

'निमित्त से विकार होता है,'—ऐसा व्यवहारनय से कहा हो तो वहाँ अज्ञानी सचमुच पर के कारण ही विकार मानकर यह बात भूल जाता है कि—निश्चय से अपनी पर्याय अपने से ही है; इसलिये वह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ स्वरूप नहीं जान पाता और उसकी निमित्ताधीन दृष्टि दूर नहीं होती। यदि निश्चयनयरूपी कुंजी लागू करके अर्थ समझे तो यथार्थ ज्ञान हो और निमित्त के कारण अपनी पर्याय न माने; इसलिये स्वोन्मुख होकर अपने में विकार दूर करने का प्रयत्न करे। पर के कारण विकार होना माने तो उस विकार को दूर करने का उपाय अपने में क्यों करेगा? इसलिये व्यवहार का कथन हो, तब भी निश्चयनय द्वारा यथार्थ स्वरूप क्या है - उसे जानना चाहिये।

निश्चय से जिसकी जो पर्याय हो, वही उसका कर्ता है। व्यवहारनय दूसरे को कर्ता कहता है, किन्तु वास्तव में वह कर्ता नहीं है। जैसे कि—

'कुम्हार ने घड़ा बनाया'—ऐसा कहा, तो वहाँ निश्चयनय से अर्थ करने की कुंजी लागू करके यह समझना चाहिये कि घड़ा किसकी पर्याय है?—मिट्टी की या कुम्हार की?—घड़ा कुम्हार की नहीं किन्तु मिट्टी की पर्याय है, इसलिये कुम्हार उसका कर्ता नहीं है किंतु मिट्टी ही उसका कर्ता है। कुम्हार को कर्ता कहना तो उपचार है, यथार्थ नहीं।

उसीप्रकार—'पेट्रोल से मोटर चली'—ऐसा व्यवहार से कहा तो वहाँ निश्चयनय कुंजी लगाकर समझ लेना चाहिये कि वास्तव में ऐसा नहीं है। पेट्रोल की पर्याय पेट्रोल में और मोटर चलने की पर्याय मोटर में; निश्चय से दोनों वस्तुऐं पृथक् हैं, इसलिये पेट्रोल से मोटर नहीं चली है। मोटर, मोटर से चली है—ऐसा जानना यथार्थ है।

'कर्म के उदय से जीव को विकार होता है'—ऐसा व्यवहार का कथन हो, वहाँ निश्चयनय

की कुंजी लागू करके ऐसा समझना चाहिये कि—विकार, वह जीव की पर्याय है और कर्म भिन्न वस्तु है; इसलिये कर्म के कारण विकार हुआ—ऐसा वास्तव में नहीं है।

'श्रीगुरु के कारण शिष्य को ज्ञान हुआ'—ऐसा विनय के व्यवहार से कहा जाता है; वहाँ भी निश्चयनय द्वारा यथार्थ स्वरूप को समझ लेना चाहिये।

शास्त्र में किसी भी द्रव्य-गुण-पर्याय का कथन हो, वहाँ यह बात लागू करना चाहिये कि वह द्रव्य-गुण-पर्याय स्व है या पर? यदि स्व को स्व-रूप से कहा हो तो कथन यथार्थ—'निश्चय से ऐसा ही है'—ऐसा जानना, और यदि पर के कारण स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय में कुछ होना कहा हो तो वह व्यवहार के उपचार का कथन है, अर्थात् 'वास्तव में ऐसा नहीं है'—ऐसा जानना।—इस प्रकार निश्चय-व्यवहार के अर्थ को समझकर समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय का निश्चय करना चाहिये। निश्चयनय स्व-पर की यथार्थ भिन्नता बतलाकर वस्तु के निज स्वरूप का यथावत् निरूपण करता है, और व्यवहारनय तो भिन्न-भिन्न वस्तुओं को एक-दूसरे से मिला कर कथन करता है, इसलिये वह यथार्थ स्वरूप का निरूपण नहीं करता। निश्चयनय से ही यथार्थ स्वरूप का निर्णय होता है।—शास्त्रों का अर्थ समझने की ऐसी रीति है। यह संतों के हृदय का हार्द है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात होने से उसका विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण किया जाता है। कोई कहे कि—यह बात उकसाने जैसी नहीं है?—(तो पू० गुरुदेव कहते हैं कि) नहीं; यह बात अच्छी तरह उकसाकर निश्चित करने योग्य है; निःशंकतापूर्वक प्रगट करने योग्य है; यह स्वतंत्रता की बात ढिंढ़ोरा पीटकर जगत भर में घोषित करने योग्य है, (....सभा में हर्ष ध्वनि) यह परम सत्य है, यह जैनधर्म का रहस्य है; इसके निर्णय बिना जैनधर्म के अक्षर का भी सच्चा अर्थ समझ में नहीं आ सकता और न किंचित् धर्म हो सकता है। इसलिये यह बात समझकर निर्णय करने योग्य है।

[—इस लेख का दूसरा भाग अगले अंक में देखिये।]

सौराष्ट्र की श्रुत वत्सल संत-त्रिपुटी

सौराष्ट्र के गिरनार धाम का यह दृश्य देखते ही उस संत-त्रिपुटी और श्रुतज्ञान के प्रति भक्ति से हृदय गद्‌गद् हो जाता है। अहो! वे समर्थ श्रुतवत्सल श्री धरसेनाचार्यदेव! और उनके पास से श्रुत विद्या प्राप्त करनेवाले पुष्पदन्त-भूतबलि मुनिवर!! उनकी अपार विनय, परम श्रुत भक्ति, अगाध ज्ञान शक्ति और ज्ञान समुद्र को हृदय में समा देने की उनकी गंभीरता!—इन सब का स्मरण होते ही उन संतों के चरणों में मस्तक झुक जाता है।

अहो, वह कितना धन्य प्रसंग होगा जब सौराष्ट्र की भूमि इस संत-त्रिपुटी से शोभायमान होगी और श्रुत अभ्यास का प्रसंग चलता होगा!! भगवान की परम्परा से चलता हुआ पावन श्रुतप्रवाह जब धरसेनाचार्यदेव, पुष्पदन्त और भूतबलि मुनिवरों को दे चुके, तब निर्विघ्नरूप से श्रुत का अभ्यास पूर्ण होने पर देवों ने गिरनार आकर उन श्रुतधारी संतों की पूजा की थी।

महावीर भगवान की परम्परा से आये हुए ज्ञान निधान का जो उत्तराधिकार धरसेनाचार्यदेव से प्राप्त हुआ, उसकी सुरक्षा के लिये पुष्पदन्त-भूतबलि मुनिवरों ने 'षट्‌खण्डागम' गूँथकर उस ज्ञान को चिरंजीवी बनाया और चतुर्विध संघ ने ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन अंकलेश्वर में श्रुतपूजा का महोत्सव मनाया। आज भी वह दिन 'श्रुतपंचमी' के रूप में उल्लासपूर्वक मनाया जाता है।

श्री वीरसेनाचार्यदेव ने श्री धवला टीका की रचना करके उस षट्‌खण्डागम के रहस्य खोले... और दीर्घकाल से अप्रसिद्ध वह पावन श्रुत आज संतों के प्रताप से पुनः प्रसिद्धि में आया है—यह भी महान हर्ष का प्रसंग है।

जयवंत हो वह दिव्यश्रुत और वे श्रुतधारी संत!

प्रयोजन की सिद्धि

आत्मा को शान्ति का प्रयोजन है, वह कैसे सिद्ध हो, उसकी यह बात है।

जीव जहाँ-जहाँ जिस-जिस में सुख मानता है, उसमें आत्मा मानता है। संयोग में जो सुख मानता है, वह आत्मा को संयोगवाला मानता है; जो रागादि में सुख मानता है, वह रागादि को ही आत्मा मानता है; गुण-गुणी भेद आदि के विकल्प में जो सुख मानता है, वह विकल्प को ही आत्मा मानता है;—इसप्रकार जहाँ-जहाँ सुख मानता है, वहाँ-वहाँ आत्मा मानता है, और वहाँ से च्युत नहीं होता।

अब, संयोग में, राग में—विकल्प में सुख मानता है किन्तु उनमें उसे सुख तो नहीं होता; इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि सब अभूतार्थ हैं; जब अन्तर्मुख चैतन्यस्वभाव में लक्ष जाये, तभी सुख होता है; इसलिये वह शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही एक भूतार्थ है, उसकी दृष्टि से ही सुख होता है। इसलिये शुद्धनय के अवलम्बन द्वारा शुद्ध आत्मा का आश्रय करने का उपदेश है और ऐसा करने से ही जीव को सम्यग्दर्शनादि अपूर्व शान्ति का वेदन होता है।

[पूज्य गुरुदेव]

— नया प्रकाशन —

मंगाने की शीघ्रता करें।

ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
सम्यग्दर्शन—दूसरी आवृत्ति	१ ॥=)
भेदज्ञानसार	२)
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें प्रथम भाग	१=)
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें दूसरा भाग	२)
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला भाग १—२	॥-) ॥-)
श्री लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका तीसरी-आवृत्ति	=)
जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह	१ ।=)
शासन प्रभाव	=)

पोस्टेज अलग

पता:—जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सुवर्णपुरी समाचार—

प्रौढ़ जैन शिक्षणवर्ग सुचारुरूप से चल रहा है, जिसमें उदयपुर, भिन्डर, ग्वालियर, नारायणपुरा, गुना, कानपुर, आगरा आदि उत्तर प्रदेश के तथा उत्तर-दक्षिण गुजरात के सब मिलकर ७५ भाई लाभ ले रहे हैं। पढ़ाई में—द्रव्यसंग्रह, छहढ़ाला, जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला, श्री लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका और निमित्त उपादान दोहे का अभ्यास चलता है व्याख्यान-पंचास्तिकाय और समयसार पर चलता है।

पाठकों से—

आत्मधर्म की फाइलें काफी संख्या में भेंट स्वरूप जिज्ञासुओं द्वारा मंगाने पर भेज दी हैं। अब प्रार्थना है कि—उनका अच्छी तरह तत्त्वदृष्टि सामने रखकर अभ्यास करें और वह फाइलें अब अधिक नहीं हैं। अत: कोई अब भेंट स्वरूप न मंगावें।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष	३।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।